सम्यक्-दिशाबोधक सशक्त कथासंग्रह

आप कुछ भी कहो

लेखक :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच. डी.

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015

हिन्दी :		
प्रथम नौ संस्करण	:	54 हजार 600
(1 मार्च 1984 से अद्यतन)		
दसम् संस्करण	:	3 हजार
(25 दिसम्बर, 2005)		
योग	:	57 हजार 600
मराठी :		
प्रथम संस्करण	:	5 हजार 200
(सन् 1985)		
कन्नड़ :		
प्रथम संस्करण	:	3 हजार 200
(सन् 1985)		
गुजराती :		
प्रथम संस्करण	:	8 हजार 200
(सन् 1986)		
अंग्रेजी :		
प्रथम तीन संस्करण	:	2 हजार 200
(सन् 1994)		
महायोग :		76 हजार 400

मूल्य : **दस रुपये**

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स प्रा.लि.
एम. आई. रोड
जयपुर

प्रकाशकीय

(दसम् संस्करण)

सुप्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल की अनुपम कृति **'आप कुछ भी कहो'** का हिन्दी भाषा में यह दसम् संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष एवं गौरव का अनुभव हो रहा है।

इस संस्करण में एक कहानी **'एक केटली गर्म पानी'** नई जोड़ी है, जो अपने आप में बेजोड़ है।

उक्त कृति के सन्दर्भ में हम प्रथम संस्करण के प्रकाशकीय का निम्नांकित अंश उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं –

''प्रस्तुत रचना में डॉ. भारिल्ल की एक से एक बढ़कर दस कहानियों का संकलन है। ये कहानियाँ हमारे यहाँ से ही प्रकाशित 'जैनपथ प्रदर्शक' पाक्षिक पत्र में क्रमशः प्रकाशित होती रही हैं और स्नेही पाठकों द्वारा भरपूर सराही जाती रही हैं।

इनके सम्बन्ध में हम स्वयं कुछ विशेष न लिखकर शोध-खोज की गहरी पकड़ और प्रखर समालोचना के लिए प्रख्यात जैन साहित्य के इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान श्री रतनलालजी कटारिया, केकड़ी (राज.) के विचार प्रस्तुत कर देना ही उपयुक्त समझते हैं, जो उन्होंने हमें इन कहानियों के प्रकाशन की प्रेरणा देते हुए लिखे थे।

वे लिखते हैं – 'जैनपथ प्रदर्शक में डॉ. भारिल्ल की कहानियाँ मैंने रुचिपूर्वक पढ़ी हैं। **जैसे वे जैन सिद्धान्त में पटु हैं, वैसे ही कथाशिल्प में भी निष्णात हैं।** गुरूणां गुरु पण्डित गोपालदासजी बरैया भी इसीप्रकार दोनों विधाओं में कुशल थे, उनका 'सुशीला' उपन्यास जैन कथाशिल्प का सुन्दर निदर्शन है।

डॉ. साहब ने अनेक नये विचारमंथनों के साथ भरत का जो नूतन चरित्र दिया है, वह उनकी काव्यमयी प्रतिभा का चमत्कार है। कवि किसी से बंधे हुए नहीं होते। वे तो अपनी मौलिक प्रतिभा से कुछ नया ही सृजन करते हैं। वही इन कहानियों में है।

उनकी प्रतिभा और कर्मठता अद्वितीय है। वे वास्तव में रत्न हैं, जो हमें सौभाग्य से प्राप्त हुए हैं। पण्डित हुकमचन्दजी साहब (डॉ. भारिल्ल) की उक्त उद्बोधक कथाओं का अलग से एक भव्य संग्रह प्रकाशित हो तो श्रेयस्कर रहे।'

यद्यपि हम स्वयं इन कहानियों के पुस्तकाकार प्रकाशन के लिए उत्सुक थे; तथापि उनके इस पत्र ने हमारी उत्सुकता को संकल्प में बदल दिया। परिणामस्वरूप प्रस्तुत प्रकाशन आज आपके हाथ में देते हुए हम प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन में संकलित दस कहानियों में से 7, 8 एवं 9 – इन तीन कहानियों का एक संकलन 'गाँठ खोल देखी नहीं' नाम से बाहुबली प्रकाशन, जयपुर द्वारा मार्च,

1983 में ही प्रकाशित हो चुका था; जो हाथों-हाथ समाप्त हो गया, आज अनुपलब्ध है।''

डॉ. भारिल्ल उन प्रतिभाशाली विद्वानों में हैं, जो आज समाज में सर्वाधिक पढ़े एवं सुने जाते हैं। वे न केवल लोकप्रिय प्रवचनकार एवं कुशल अध्यापक ही हैं; अपितु सिद्धहस्त लेखक, कुशल कथाकार, सफल सम्पादक एवं आध्यात्मिक कवि भी हैं।

आपने 'क्रमबद्धपर्याय' एवं 'परमभावप्रकाशक नयचक्र' जैसी गूढ़ दार्शनिक विषयों को स्पष्ट करनेवाली कृतियाँ लिखीं, जिन्होंने आगम एवं अध्यात्म के गहन रहस्यों को सरल भाषा व सुबोध शैली में प्रस्तुत कर आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी द्वारा व्याख्यायित जिन-सिद्धान्तों को जन-जन तक पहुँचाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। यही कारण है कि स्वामीजी की उन पर कृपा रही है। वे अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा करते थे, **'पण्डित हुकमचन्द का वर्तमान तत्त्वप्रचार में बड़ा हाथ है।'**

उत्तमक्षमादि दश धर्मों का विश्लेषण जिस गहराई से आपने 'धर्म के दशलक्षण' पुस्तक में किया है, उसने जनसामान्य के साथ-साथ विद्वद्वर्ग का भी मन मोह लिया। जिसे पढ़कर वयोवृद्ध व्रती विद्वान पण्डित श्री जगनमोहनलालजी शास्त्री कह उठे थे – **'डॉ. भारिल्ल की लेखनी को सरस्वती का वरदान है।'**

'सत्य की खोज', 'तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ', 'मैं कौन हूँ' और 'पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व' भी अपने-आप में अद्भुत कृतियाँ हैं। अधिक क्या लिखें, उनका सम्पूर्ण साहित्य ही आत्महितकारी होने से बार-बार पढ़ने योग्य है। इनके अतिरिक्त 'बारह भावना : एक अनुशीलन', पद्यमय 'बारह भावना' तथा 'जिनेन्द्र वन्दना' एवं 'गागर में सागर' भी हमने प्रकाशित की हैं। अभी हाल में प्रकाशित 'प्रवचनसार का सार', 'समयसार का सार', 'प्रवचनसार अनुशीलन', 'समयसार : अनुशीलन', 'चिन्तन की गहराईयाँ', 'बिखरे मोती', 'सूक्ति-सुधा', 'बिन्दु में सिन्धु', 'मैं स्वयं भगवान हूँ', गोली का जबाब गाली से भी नहीं', 'दृष्टि का विषय', 'णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन', 'अध्यात्म नवनीत' और रक्षाबंधन और दीपावली आपकी नवीनतम कृतियाँ हैं। ये सभी अपने आप में अनूठी कृतियाँ हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी समारोह के पावन प्रसंग पर प्रकाशित डॉ. भारिल्ल की नवीनतम कृतियों – आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम, कुन्दकुन्द शतक तथा समयसार पद्यानुवाद – ने भी समाज में अपार ख्याति अर्जित की है। कुन्दकुन्द शतक तो विभिन्न रूपों में अबतक एक लाख से भी अधिक संख्या में समाज तक पहुँच चुका है। आपके द्वारा लिखित व सम्पादित लोकप्रिय महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों की सूची अन्यत्र दी गई है।

साहित्य व समाज के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी गति अबाध है। तत्त्वप्रचार की गतिविधियों को निरन्तर गति प्रदान करनेवाली उनकी नित नई सूझ-बूझ, अद्भुत प्रशासनिक क्षमता एवं पैनी पकड़ का ही परिणाम है कि आज जयपुर आध्यात्मिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया है।

यह भी सबके लिए गौरव का विषय है कि दि. 8 अप्रैल 2001 को राष्ट्रसंत आचार्य श्री विद्यानन्दजी के पावन सान्निध्य में देश की राजधानी दिल्ली में लालकिले के मैदान में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का अभिनन्दन समारोह सम्पन्न हुआ; जिसमें **'तत्त्ववेत्ता डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल'** अभिनन्दन ग्रन्थ का लोकार्पण किया गया।

यही नहीं भारिल्लजी के प्रिय शिष्य डॉ. महावीरप्रसाद टोकर ने **'डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व'** विषय पर शोधकार्य कर सुखाड़िया वि.वि. उदयपुर से पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की है। इसीप्रकार अरुणकुमार जैन एम.ए. उत्तरार्द्ध के लिए लिखे गये लघु शोध प्रबंध के रूप में **'डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल और उनका कथा साहित्य'** नामक ग्रंथ लिखा है। ये दोनों कृतियाँ भी प्रकाशित हो चुकी है।

यह 'आप कुछ भी कहो' कृति भी अपने प्रकार की अनूठी रचना है। इसमें पौराणिक प्रसंगों पर नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। मूलत: बात तो पुरानी ही है; पर प्रस्तुतीकरण एकदम नया है, दिशा-बोध देनेवाला है। इसे पढ़कर लगता है कि प्रथमानुयोग में भी अगणित रहस्य भरे पड़े हैं, बस उन्हें पहिचानने वाला चाहिए।

हमारा निरन्तर प्रयत्न रहता है कि उन्हें बाह्य कार्यों में कम से कम उलझना पड़े, जिससे वे अधिक से अधिक साहित्य साधना कर सकें, पर उनके प्रवचनों की लोकप्रियता के कारण यह बहुत कम सम्भव हो पाता है।

इस अद्भुत रचना के लिए हम उनका आभार तो क्या मानें, हमारी तो हार्दिक भावना है कि वे अधिक से अधिक काल तक इस दिशा में सक्रिय रहकर स्थायी महत्त्व का साहित्य निर्माण करते रहें, साथ ही स्वामीजी के प्रभावना उदय को भी जाग्रत रखें, उनके द्वारा जलाई गई ज्योति को निरन्तर जलाये रखें।

इस प्रकाशन का मूल्य लागत से भी कम करने हेतु जिन लोगों ने आर्थिक सहयोग दिया है, पृथक् से उनकी सूची दी गई है। उनके इस सहयोग के लिए हम हृदय से आभारी हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन को और भी अधिक लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से स्थान-स्थान पर चित्रों का प्रकाशन किया गया है। चित्रांकन का कार्य बालहंस के सम्पादक श्री अनन्त कुशवाहा द्वारा किया गया है; जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। चित्रों की कल्पना एवं प्रकाशन का सम्पूर्ण दायित्व विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल ने बखूबी सम्हाला है। अत: ट्रस्ट उनका भी आभारी है।

– ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.
15 नवम्बर, 2005 प्रकाशन मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

अनुक्रमणिका

क्रम		पृष्ठ
	मुझे आप से कुछ कहना है	१
१.	आप कुछ भी कहो	९
२.	अक्षम्य अपराध	१७
३.	जागृत विवेक	२१
४.	अभागा भरत	२६
५.	उच्छिष्ट भोजी	३१
६.	परिवर्तन	३६
७.	जरा-सा अविवेक	४२
८.	गाँठ खोल देखी नहीं	५४
९.	तिरिया-चरित्तर	६६
१०.	असन्तोष की जड़	८१
११.	एक केटली गरम पानी	८७
	अभिमत	९३

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

1.	श्रीमती कस्तूरी देवी पुगलिया हस्ते श्री शुभकरन जुगराजजी पुगलिया, सरदारशहर	2100.00
2.	देहली की एक बहन हस्ते राजेन्द्रकुमारजी जैन, दिल्ली	1100.00
3.	श्री महावीरप्रसादजी जैन, बड़नगर	701.00
4.	कु. नेहा, कु. श्वेता, कु. दीपिका झाँझरी, बड़नगर	603.00
5.	श्रीमती पतासीदेवी इन्द्रचन्दजी पाटनी, लाडनूँ	501.00
6.	श्रीमती कुसुमबाई भानावत, इन्दौर	501.00
7.	श्री सुन्दरलालजी जैन, इन्दौर	501.00
8.	स्व. रतनबाई मिश्रीलालजी अजमेरा, बड़नगर	501.00
9.	श्रीमती शकुन्तलाबाई पाटोदी हस्ते श्रीमती प्रेमलताबाई अजमेरा, इन्दौर	501.00
10.	श्री मुकेश फूलचंदजी सेठी, बड़नगर	501.00
11.	श्री पवनकुमारजी काला, बड़नगर	501.00
12.	श्री नरेन्द्रजी बिलाला, बड़नगर	501.00
13.	स्व. श्री कोमलचन्दजी गोधा, बड़नगर	501.00
14.	कु. अनिता काला बड़नगर	501.00
15.	श्री गेंदालालजी मारवाड़ी, बड़नगर	501.00
16.	श्री संजयजी पाटोदी, बड़नगर	500.00
17.	श्री विमलचन्दजी पाटोदी, बड़नगर	500.00
18.	श्री नरेन्द्रकुमारजी पाटोदी, बड़नगर	500.00
19.	श्री गंभीरमलजी बिलाला, बड़नगर	500.00
20.	श्री पवनकुमारजी छाजेड़, बड़नगर	500.00
21.	श्री अशोककुमारजी शाह, बड़नगर	500.00
22.	श्रीमती रतनदेवी ध.प. स्व. महावीरप्रसादजी जैन, जयपुर	500.00
23.	श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प. श्री पूनमचंदजी छाबड़ा, जयपुर	251.00
24.	श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	251.00
25.	श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	251.00
26.	श्रीमती रश्मिदेवी वीरेशजी कासलीवाल, सूरत	251.00
27.	श्री माँगीलाल अर्जुनलालजी छाबड़ा, इन्दौर	251.00
28.	श्री मयूरभाई एम. सिंघवी, मुम्बई	251.00
29.	स्व. ऋषभकुमार जैन पुत्र श्री सुरेशकुमारजी जैन, पिड़ावा	251.00
30.	श्रीमती विमलादेवी ध.प. श्री सुमेरमलजी पहाड़िया, तिनसुकिया	251.00
31.	श्रीमती कुसुम जैन ध.प. श्री विमलकुमारजी जैन 'नीरू केमिकल्स' दिल्ली	251.00
32.	श्रीमती भावना जैन ध.प. श्री सुनीलकु मारजी चौधरी, भीलवाड़ा	151.00
33.	श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गौहाटी	101.00
34.	श्रीमती गुलाबी देवी ध.प. श्री लक्ष्मीनारायणजी रारा, शिवसागर	101.00
35.	श्रीमती सोहन देवी ध.प. स्व. तनसुखलालजी पाटनी, जयपुर	101.00
36.	स्व. श्रीमती धापूदेवी ध.प. स्व. श्री ताराचन्दजी गंगवाल की पुण्य स्मृति में, जयपुर	101.00
37.	श्री अजितकुमारजी जैन, फिरोजाबाद	101.00
38.	श्री कमल दोशी, प्रतापगढ़	101.00
	कुल राशि	**16531.00**

लेखक के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

समयसार अनुशीलन भाग-१	२५.००
समयसार अनुशीलन भाग-२	२०.००
समयसार अनुशीलन भाग-३	२०.००
समयसार अनुशीलन भाग-४	२०.००
समयसार अनुशीलन भाग-५	२५.००
समयसार का सार	२५.००
प्रवचनसार का सार	३०.००
प्रवचनसार अनुशीलन भाग-१	३०.००
पं. टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व	२०.००
परमभावप्रकाशक नयचक्र	२०.००
चिन्तन की गहराइयाँ	२०.००
तीर्थं.महावीर और उनका सर्वो.तीर्थ	१५.००
धर्म के दशलक्षण	१६.००
क्रमबद्धपर्याय	१२.००
बिखरे मोती	१६.००
सत्य की खोज	१६.००
अध्यात्मनवनीत	१५.००
आप कुछ भी कहो	१०.००
आत्मा ही है शरण	१५.००
सुक्ति-सुधा	१८.००
बारह भावना : एक अनुशीलन	१२.००
दृष्टि का विषय	१०.००
गागर में सागर	७.००
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	८.००
णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन	१०.००
रक्षाबन्धन और दीपावली	५.००
आ.कुंदकुंद और उनके पंचपरमागम	५.००
युगपुरुष कानजीस्वामी	५.००
वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	१२.००
मैं कौन हूँ	४.००
निमित्तोपादान	३.५०
अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	३.००
मैं स्वयं भगवान हूँ	३.००
रीति-नीति	३.००
शाकाहार	२.५०
तीर्थंकर भगवान महावीर	२.५०
चैतन्य चमत्कार	२.००
गोली का जवाब गाली से भी नहीं	२.००
गोम्मटेश्वर बाहुबली	२.००
वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	२.००
अनेकान्त और स्याद्वाद	१.००
शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर	१.५०
बिन्दु में सिन्धु	२.००
बारह भावना एवं जिनेंद्र वंदना	२.००
कुंदकुंदशतक पद्यानुवाद	१.००
शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद	१.००
समयसार पद्यानुवाद	३.००
योगसार पद्यानुवाद	०.५०
समयसार कलश पद्यानुवाद	३.००
प्रवचनसार पद्यानुवाद	३.००
द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद	१.००
अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद	३.००
अर्चना जेबी	१.००
कुंदकुंदशतक (अर्थ सहित)	१.२५
शुद्धात्मशतक (अर्थ सहित)	१.००
बालबोध पाठमाला भाग-२	३.००
बालबोध पाठमाला भाग-३	३.००
वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-१	४.००
वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-२	४.००
वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-३	४.००
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-१	५.००
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-२	४.००

मुझे आपसे कुछ कहना है

कथा-साहित्य साहित्य-क्षेत्र की सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है। सत्य और तथ्य को जन-जन तक पहुँचाने का इससे अधिक सशक्त माध्यम अभी तक कोई दूसरा विकसित नहीं हो सका है।

यद्यपि उक्त तथ्य से मैं अपरिचित नहीं था; तथापि 'सत्य की खोज' की असाधारण लोकप्रियता ने मेरा ध्यान उक्त तथ्य की ओर विशेष आकर्षित किया; किन्तु चाहकर भी अतिव्यस्तता के कारण उसके बाद इस क्षेत्र में कुछ भी नहीं किया जा सका। अनेक उपक्रम आरम्भ करने के बाद भी अधूरे पड़े रहे।

व्यस्तता भी कोई लौकिक नहीं रही; अपितु इस युग के समर्थ सत्यार्थदृष्टा, क्रान्तिकारी अध्यात्मिकसत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा प्रदत्त तत्त्वज्ञान को आत्मसात् करने एवं जन-जन तक पहुँचाने में ही संलग्न रहा हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की अत्यन्त वृद्धावस्था एवं वर्तमान सामाजिक स्थिति के संदर्भ में तत्त्व की सुरक्षा के लिए मैं चाहता था कि उनके द्वारा उद्घाटित मूलभूत तथ्यों को, जिनवाणी के मर्म को, विवादस्थ विषयों को सुव्यवस्थित रूप से सरल-सुबोध भाषा एवं सुगम शैली में सप्रमाण लिपिबद्ध कर लिया जाय। वह लिपिबद्ध सामग्री एक बार उनकी निगाह से भी निकल जावे, जिससे भविष्य में विवाद के लिए कोई गुंजाइश न रहे। परिणामस्वरूप 'क्रमबद्धपर्याय' एवं 'जिनवरस्य नयचक्रम्'[१] जैसी क्रान्तिकारी कृतियों का जन्म हुआ, जिन्होंने पूज्य गुरुदेवश्री के मंगल आशीर्वाद के साथ-साथ जनता-जनार्दन का भी भरपूर स्नेह प्राप्त किया।

---

१. आज यह कृति परिवर्धित होकर परमभावप्रकाशक नयचक्र नाम से प्रकाशित है।

फिर भी कथा-साहित्य की अजेय शक्ति से गहराई से परिचित होने के कारण कथा-साहित्य सृजन सम्बन्धी विकल्प निरन्तर बना ही रहा।

कथा-साहित्य के दो रूप हैं - उपन्यास और कहानी।

यद्यपि कहानी की अपेक्षा उपन्यास का आकार-प्रकार विस्तृत होने के कारण अपनी बात प्रस्तुत करने के लिए उसमें अधिक अवकाश रहता है; तथापि व्यस्तता के इस युग में लोगों को इतना अवकाश कहाँ है, जो लम्बे-लम्बे उपन्यासों को पढ़ सकें। आज तो लम्बी कहानियों की अपेक्षा भी लघुकथायें अधिक पढ़ी जाती हैं।

समाज के इस रुझान एवं समयाभाव ने मुझे कहानियों की ओर अभिमुख किया।

सत्साहित्य का निर्माण परमसत्य के उद्घाटन के लिए किया जानेवाला महान् कार्य है; अतः इसका पठन-पाठन भी परमसत्य की उपलब्धि के लिए गम्भीरता से किया जाना चाहिए; पर आज इसे मनोरंजन की वस्तु बना लिया गया है। इसप्रकार का दुरुपयोग कथा-साहित्य में सर्वाधिक हुआ है। साहित्य की सर्वाधिक प्रभावशाली एवं शक्तिसम्पन्न यह विधा आज लोगों का मनोरंजन करने मात्र में उलझकर रह गई है - इससे बड़ा दुर्भाग्य साहित्य व समाज का और क्या हो सकता है ?

साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है, पर यह नहीं भूलना चाहिए की साहित्य मात्र दर्पण नहीं; दीपक भी है, मार्गदर्शक भी है, प्रेरक भी है। जो साहित्य प्रकाश न बिखेरे, मार्गदर्शन न करे, सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा न दे; मात्र वर्तमान समाज का कुत्सित चित्र प्रस्तुत करे या मनोरंजन तक सीमित रहे, वह साहित्य साहित्य नहीं, साहित्य के नाम पर कलंक है।

जिसप्रकार अणुशक्ति का सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी; उसके सदुपयोग से यदि हम समृद्धि के शिखर पर पहुँच सकते हैं तो दुरुपयोग से सर्वविनाश भी सम्भव है।

इसीप्रकार साहित्य की इस सशक्त विधा के सदुपयोग से यदि हम परमसत्य को जन-जन तक सहज पहुँचा सकते हैं तो दुरुपयोग से अनजान जनता को चमत्कारों के घटाटोप में भी उलझा सकते हैं, मंत्र-तंत्रों के चक्कर में भी फँसा सकते हैं; कुछ नहीं तो मनोरंजन के नाम पर उनके इस महत्त्वपूर्ण मानव जीवन के अमूल्य क्षणों को यों ही बरबाद तो कर ही सकते हैं।

जैन कथा-साहित्य में भी इसप्रकार की सभी प्रवृत्तियाँ पायी जाती रही हैं। कथा-साहित्य का दिशाबोधक यन्त्र (कुतुबनुमा) तत्त्वज्ञान होता है; क्योंकि कथा-साहित्य का सृजन ही तत्त्वज्ञान को सरल-सुबोध रूप में प्रस्तुत करने के लिए होता है। जिनागम का कथानुयोग (प्रथमानुयोग) भी द्रव्यानुयोग, करणानुयोग एवं चरणानुयोग का पोषक होना चाहिए, होता भी है; किन्तु तत्त्वज्ञानशून्य कथालेखकों ने अपनी चमत्कारप्रियता के कारण उसे विकृत किया है। अथवा यह भी हो सकता है कि अज्ञान के कारण अनजाने में ही ऐसा हो गया हो। जो भी हो, पर मूल कथाबिन्दुओं एवं जैन तत्त्वज्ञान के संदर्भ में उनका पुनर्मूल्यांकन आवश्यक अवश्य है। यह कथन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित प्रथमानुयोग के बारे में नहीं, मध्यकालीन भट्टारकीय प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में समझना चाहिये।

प्रस्तुत प्रकाशन में संगृहीत कहानियों में इसप्रकार के कुछ बिन्दुओं को स्पर्श किया गया है; जिनमें आप देखेंगे कि कथानक सम्पूर्णत: उसी रूप में होने पर भी दिशाबोध एकदम बदल गया है।

'आप कुछ भी कहो' नामक प्रथम कहानी इसका सर्वाधिक सशक्त उदाहरण है, जिसमें उपलब्ध कथानक के मूल ढाँचे को सम्पूर्णत: उसी रूप में रखे जाने पर भी प्रचलित कहानी का कायाकल्प हो गया है। कहानी की थुलथुल काया से चमत्कारिक कल्पनाओं की अनावश्यक वसा (चर्बी) सम्पूर्णत: विसर्जित हो गई है एवं उसके अंग-अंग में तात्त्विक तेज प्रस्फुटित हो उठा है। चमत्कारिक उपलब्धियों से सम्पूर्णत: इन्कार कर दिये जाने पर भी तेजस्वी गुरु का तेज व गौरव कम नहीं होने पाया है, अपितु द्विगुणित हो उठा है।

'आप कुछ भी कहो, पर हम तो इसे आपका चमत्कार ही मानेंगे' - इस अन्तिम वाक्य ने अज्ञान की जड़ें कितनी गहरी होती हैं - इस तथ्य को जिस सुन्दरता के साथ उजागर किया है, उससे समस्त चमत्कारिक कल्पनाओं की वास्तविक स्थिति सहज ही स्पष्ट हो जाती है।

गुण और दोष सम्बन्धी तात्त्विक अज्ञान के कारण कभी-कभी हम अक्षम्य अपराधों को भी गुणों के रूप में स्मरण करने लगते हैं। भूमिकानुसार आचरण सम्बन्धी ज्ञान के अभाव में भी इसप्रकार की भूलें होती हैं।

साधु पुरुषों को अपने व्यवहार और विकल्पों की सीमा को पहिचानना ही चाहिए। समाज और देश में उत्तेजना फैलानेवाले कार्य श्रमणभूमिका में तो अक्षम्य अपराध ही हैं।

यद्यपि मोह-राग-द्वेष और तत्सम्बन्धित समस्त सदसदाचरण अपराध ही हैं; तथापि साधु और श्रावकों में अपनी-अपनी भूमिकानुसार सीमित राग-द्वेष तो पाये ही जाते हैं; पर ध्यान रहे पाये जाने मात्र से वे गुण नहीं हो जाते, रहते तो दोष ही हैं; उन्हें दोष नहीं मानना अपराध है। यदि वे दोष नहीं होते तो तदर्थ प्रायश्चित्त क्यों लेना पड़ता है ?

'अक्षम्य अपराध' कहानी इस तथ्य को उजागर करती है।

सद्भाग्य और दुर्भाग्य की सच्ची समझ भी कितने लोगों को होती है ? लौकिक वैभव एवं भोगसामग्री की उपलब्धि ही जिनका ध्येय है, येन-केन प्रकारेण इन्हें प्राप्त कर लेनेवाले ही जिन्हें भाग्यशाली दिखते हैं; चक्रवर्ती भरत के अन्तरंग को अभिव्यक्त करनेवाली 'अभागा भरत और 'उच्छिष्ट भोजी' कहानियाँ उनकी आँखें खोल देने के लिए पर्याप्त हैं, बशर्ते उनकी ज्योति ही समाप्त न हो गई हो।

प्रस्तुत प्रकाशन में दश कहानियाँ संगृहीत हैं; जिनमें से कुछ तो ऐतिहासिक एवं पौराणिक आख्यानों के आधार पर लिखी गई हैं, शेष काल्पनिक हैं।

पौराणिक आधारों पर लिखी गई कहानियों में कथानक के मूल बिन्दुओं को पूर्णत: सुरक्षित रखते हुए, उसके आन्तरिक मर्म को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया गया है। पात्रों की आन्तरिक कमजोरियों एवं कमियों के उद्घाटन में यह सावधानी सर्वत्र बरती गई है कि उनकी गरिमा को आँच न आने पावे। चक्रवर्त्ती भरत को अभागा और उच्छिष्ट भोजी बताये जाने पर भी उनका गौरव खण्डित नहीं होने पाया है।

आद्य चक्रवर्ती सम्राट भरत का चरित्र प्रथमानुयोग (जैन कथा-साहित्य) का एक ऐसा अद्भुत चरित्र है; जिसमें चरणानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग एवं जिन-अध्यात्म में वर्णित चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरतसम्यग्दृष्टि श्रावक के जीवन (आचार-विचार एवं व्यवहार) के प्रत्येक चरमबिन्दु को स्पर्श किया गया है।

जिनागम के आलोक में मेरे मानस ने उनके अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व के अनेक पहलुओं को गहराई से छुआ है। उपन्यास के रूप में उनके आन्तरिक वैभव के चित्रण की गहरी लालसा चित्त में बहुत दिनों से समाई हुई है। बरसों पहले लिखना आरम्भ भी किया था, पर.....। भविष्य के बारे में अभी कुछ कहना न तो संभव ही है और न उचित ही।

'उच्छिष्ट भोजी' कहानी के अन्त में समागत भरत का यह कथन उनके अन्तर का परिचय देने के लिए पर्याप्त है -

"माँ, तेरे भरत का राग चाहे उसके वश की बात न हो; पर उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान - विवेक धोखा नहीं खा सकता। भले ही भरत इस चक्रवर्त्तित्व को छोड़ न सके, पर इसमें रहकर गर्व अनुभव नहीं कर सकता, इसमें रम नहीं सकता।

चक्रवर्त्तित्व भरत का गौरव नहीं; मजबूरी है, मजबूरी।"

इस सन्दर्भ में मुझे एक बात यह कहनी है कि पुराणों में भरत की माँ के दो नाम प्राप्त होते हैं - यशस्वती और नन्दा। मेरी दृष्टि में यशस्वती उनकी

उपाधि रही होगी और नन्दा नाम। जो भी हो, पर मैंने इन कहानियों में उक्त दोनों नामों का प्रयोग विशेषण-विशेष्य के रूप में 'यशस्वती नन्दा' किया है।

इसीप्रकार की स्थिति तीर्थंकर भगवान महावीर की माँ के सम्बन्ध में भी पाई जाती है। प्रियकारिणी और त्रिशला - उनके भी ये दो नाम प्राप्त होते हैं। 'तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ' नामक पुस्तक में मैंने उनके नाम का उल्लेख भी 'प्रियकारिणी त्रिशला' - इसप्रकार विशेषण-विशेष्य के रूप में ही किया है।

काल्पनिक कहानियों में पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याओं को स्पर्श किया गया है।

जहाँ एक ओर 'असन्तोष की जड़' और 'जरा-सा अविवेक' कहानियाँ जरा-सी भूल एवं अपरिपक्व व्यवहार के कारण होनेवाले पारिवारिक कलह एवं सामाजिक विघटन के चित्र प्रस्तुत करती हैं तो 'तिरिया-चरित्तर' यह स्पष्ट करती है कि **कोरे शब्दों के संग्रह का नाम पाण्डित्य नहीं है, ज्ञान की गरिमा अनुभव से प्राप्त होती है।**

'जागृत विवेक', 'परिवर्तन' एवं 'गाँठ खोल देखी नहीं' कहानियाँ भी कोरी कहानियाँ नहीं हैं, उनमें भी कुछ कहने का प्रयास किया गया है।

'जागृत विवेक' कहानी में विद्यार्जन में विनय और विवेक के स्थान का निर्धारण हुआ है। आचार्य धरसेन के निम्नांकित कथन में सब-कुछ आ गया है —

''यद्यपि विवेक का स्थान सर्वोपरि है, किन्तु वह विनय और मर्यादा को भंग करनेवाला नहीं होना चाहिए। विवेक के नाम पर कुछ भी कर डालना तो महापाप है; क्योंकि निरंकुश विवेक पूर्वजों से प्राप्त श्रुतपरम्परा के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।''

इसीप्रकार 'गाँठ खोल देखी नहीं' कहानी की निम्नांकित पंक्तियाँ भी ध्यान देने योग्य हैं —

"सड़कों पर, गलियों में घूमते दर-दर की ठोकर खाते चेतन लालों की कीमत आज किसको है? आज तो सभी जड़ रत्नों के पीछे भाग रहे हैं। आज कौन-सा घर इन चेतन लालों से खाली है? कमी लालों की नहीं; उन्हें पहिचाननेवालों की है, सँभालनेवालों की है। दूसरों की बात जाने दीजिए; हम स्वयं लाल हैं, पर अपने को पहिचान नहीं पा रहे हैं।"

कहानी की विषयवस्तु चाहे कुछ भी हो, मेरी रुचि का विषय और जीवन का अभिन्न अंग होने से अध्यात्म तो तिल में तेल की भाँति इन सभी कहानियों में सर्वत्र अनुस्यूत है ही। यह भी कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि **कथानक तो मात्र बहाना है, मूल प्रतिपाद्य तो अध्यात्म ही है।**

यद्यपि सामान्यरूप से इन सभी कहानियों में विभिन्न पहलुओं से जिन-अध्यात्म के आन्तरिक मर्म को ही स्पष्ट किया गया है; तथापि प्रत्येक कहानी के माध्यम से कुछ विशेष कहने का भी प्रयास किया गया है।

यह तो सर्वविदित ही है कि जैनदर्शन अकर्त्तावादी दर्शन है। अत: जैन कथा-साहित्य भी अकर्त्तृत्व का पोषक होना चाहिए। मूलत: वह ऐसा है भी; किन्तु सहज लोकप्रवाह में बहकर उसमें जो कर्त्तृत्वपोषक पुट आ गया है, निरन्तर बढ़ रहा है; जैसे भी बने उस प्रवाह को रोककर उसे उसकी मूल धारा में सहज प्रवाहित करने का ही यह एक लघु प्रयास है।

अत: मनीषियों से मार्गदर्शन एवं प्रोत्साहन की अपेक्षा स्वाभाविक ही है। सहज सहयोग करना, सहज प्रोत्साहन देना, मार्गदर्शन करना; सज्जनों की स्वभावगत विशेषता होने से उनसे कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं, तदर्थ विनम्र अनुरोध ही पर्याप्त है।

यदि दृष्टि विशाल हो तो पाठकीय प्रतिक्रियाओं से भी सहज मार्गदर्शन प्राप्त होता ही है, इसके लिए तो किसी से कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है।

इन दश कहानियों में से नौ कहानियाँ तो सन् १९८३ की ही रचनाएँ हैं, मात्र एक कहानी 'असन्तोष की जड़' इक्कीस-बाईस वर्ष पुरानी रचना है। ये सभी कहानियाँ जैनपथ प्रदर्शक (पाक्षिक) में प्रकाशित हो चुकी हैं।

कहानियों के कथाशिल्प, सम्प्रेषण, भाषा, शैली आदि के बारे में मुझे कुछ भी नहीं कहना है। विषय-वस्तु के सम्बन्ध में जो कुछ कहना है; मूलत: तो वह कहानियों में ही कहा गया है, यहाँ तो बस मात्र यह कहना है कि उस पर जरा ध्यान दें।

और अन्त में बस यही कहना है कि इन कहानियों में जिस पावन भावना से कुछ कहने का प्रयास किया गया है; सम्पूर्ण जगत उसी पावन भावना से इसे ग्रहण करे, ग्रहण कर आत्समात् करे।

सम्यक्-मार्गदर्शन की अपेक्षा के साथ,

२४ फरवरी, १९८४ ई. - **(डॉ.) हुकमचन्द भारिल्ल**

विनय के बिना तो विद्या प्राप्त होती ही नहीं है; पर विवेक और प्रतिभा भी अनिवार्य हैं, इनके बिना भी विद्यार्जन असम्भव है। गुरु के प्रति अडिग आस्था का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, पर वह आतंक की सीमा तक न पहुँचना चाहिए, अन्यथा वह विवेक को कुण्ठित कर देगी।

समागत समस्याओं का समुचित समाधान तो स्व-विवेक से ही संभव है; क्योंकि गुरु की उपलब्धि तो सदा सर्वत्र सम्भव नहीं। परम्पराएँ भी हर समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकतीं; क्योंकि एक तो समस्याओं के अनुरूप परम्पराओं की उपलब्धि सदा सम्भव नहीं रहती; दूसरे, परिस्थितियाँ भी दो बदलती रहती हैं।

यद्यपि विवेक का स्थान सर्वोपरि है; किन्तु वह विनय और मर्यादा को भंग करनेवाला नहीं होना चाहिए। विवेक के नाम पर कुछ भी कर डालना तो महापाप है; क्योंकि निरंकुश विवेक पूर्वजों से प्राप्त श्रुत परम्परा के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।

क्षेत्र और काल के प्रभाव से समागत विकृतियों का निराकरण करना जागृत विवेक का ही काम है, पर इसमें सर्वाङ्ग सावधानी अनिवार्य है।

- **इसी पुस्तक में,** पृष्ठ २५

आप कुछ भी कहो

(१)

''**नमोऽस्तु**'' की विनम्र ध्वनि ने ऋषिराज का ध्यान भग्न किया तो उनके मुखारविन्द से सहज ही मंगल आशीर्वाद प्रस्फुटित हुआ -

''**धर्मवृद्धिरस्तु**''

विनत राजश्रेष्ठी का म्लान मुख देखकर ऋषिराज बोले -

''बोलो, क्या बात है?''

अन्तर के भावों को छिपाते हुए श्रेष्ठीराज कहने लगे -

''कुछ नहीं, - बस, आपके दर्शन करने ही चला आया हूँ।''

''असमय में आगमन एवं म्लानमुख सब-कुछ कह रहा है; छुपाने का प्रयत्न व्यर्थ है, आवश्यक भी नहीं।''

''महाराज छुपाने की तो कुछ बात नहीं, पर····।''

''पर संकोच किस बात का ? जब····''

''महाराज ! आपकी यह पीड़ा देखी नहीं जाती, सही नहीं जाती; दिगम्बरत्व का अपमान बरदाश्त नहीं होता।''

''हमें कैसी पीड़ा ? हम तो अतीन्द्रिय आनन्द में मग्न रहते हैं।''

''आपका सम्पूर्ण शरीर कुष्ठ से गल रहा है''

''यह तो जड़ पुद्गल का परिणमन है। इससे हमारा क्या लेना-देना? जबतक संयोग है, तबतक रहेगा। पुण्य-पाप के अनुसार इसका जैसा परिणमन

होना होगा, होता रहेगा। हम तो इससे भिन्न ज्ञान के घनपिण्ड आनन्द के कन्द चेतनतत्त्व हैं, सो उसमें ही मग्न हैं।''

''यह सब तो ठीक है, अध्यात्म की बातें हैं; पर आपको इसके लिए भी कुछ करना चाहिए - यही हमारा नम्र निवेदन है।''

''हम इसका क्या कर सकते हैं ?''

''आप क्या नहीं कर सकते हैं? आप कुवादियों का मद मर्दन करने वाले वादिराज हैं। आपकी वाणी में वह शक्ति है कि जो उसमें प्रस्फुटित हो जावे, वह होकर ही रहता है। इसका परिचय इस जगत को कई बार प्राप्त हो चुका है। आपके शब्द ही मंत्र हैं, उनका जादू जैसा प्रभाव हम कई बार देख चुके हैं। यदि आप चाहे तो यह कुष्ठ एक समय भी नहीं रह सकता।''

''बहुत भ्रम में हो श्रेष्ठीराज! ऐसा कुछ भी नहीं है। **किसी का चाहा कुछ भी नहीं होता। उसी भव में मोक्ष जाने वाले सनतकुमार चक्रवर्ती को भी मुनि-अवस्था में सात सौ वर्ष तक यह कुष्ठ व्याधि रही थी, तो हमारी क्या बात है?**

दूसरे, इसने क्या बिगाड़ा है हमारा, जो हम इसका अभाव चाहने लगें। हमने कुछ चाहने के लिए घर नहीं छोड़ा है, चाहना छोड़ने के लिये ही हम दिगम्बर हुए हैं। हमें इन विकल्पों में न उलझाओ।

शास्त्रों में ठीक ही कहा है कि गृहस्थों की अधिक संगति ठीक नहीं। वे व्यर्थ की बातों में ही उलझाते हैं, उनसे अन्तर की प्रेरणा मिलना तो सम्भव है नहीं।''

''आप अपने लिए न सही, पर हमारे लिए तो कुछ करो। हमसे यह दु:ख देखा नहीं जाता, दिगम्बरत्व का यह अपमान....''

वे अपनी बात पूरी ही न कर पाये थे कि वादिराज बोले -

''कोई किसी के लिए कुछ नहीं कर सकता। पर इसमें दिगम्बरत्व के अपमान की बात कहाँ से आ गई? **दिगम्बर धर्म आत्मा का धर्म है, शरीर**

का नहीं। शरीर के विकृत होने से दिगम्बर धर्म का अपमान कैसे हो सकता है।''

ऋषिराज वादिराज बोले जा रहे थे, पर श्रेष्ठीराज कुछ नहीं सुन रहे थे; उनकी आँखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी। वे अत्यन्त भावुक हो गये थे। जब ऋषिराज का ध्यान उनकी ओर गया तो वे बोले -

''तुम्हारी इस व्याकुलता का कारण अगम्य है। सब-कुछ साफ-साफ कहो - बात क्या है?''

गद्‌गद स्वर में राजश्रेष्ठी कहने लगे - ''कल राजसभा में जबकि दरबार खचाखच भरा था, दिगम्बर धर्म की हँसी उड़ाते हुए कुछ विरोधियों ने जब यह कहा कि दिगम्बर साधु कोढ़ी होते हैं, उनमें इतनी भी क्षमता नहीं कि अपने ही शरीर को स्वस्थ रख लें, तो वे दूसरों का क्या भला करेंगे ?

दिगम्बरत्व का यह अपमान मुझसे न सहा गया और मैंने कहा कि - यह सफेद झूठ है, दिगम्बर साधु कोढ़ी नहीं होते। वे सब-कुछ कर सकते हैं।

उस समय जोश में मुझे कुछ होश न रहा और मैं यह सब कह गया। पर जब उन लोगों ने कहा कि हमने आज ही नगर में कोढ़ी दिगम्बर साधु देखे हैं तो मुझे आपका ध्यान आया, पर....।

उन लोगों ने महाराजा साहब को बहुत उकसाया तो वे कहने लगे - हम स्वयं कल दिगम्बर मुनिराज के दर्शन करने चलेंगे।''

शान्त गम्भीर ऋषिराज बोले -

''श्रेष्ठीवर, इतना धर्मानुराग भी ठीक नहीं कि उसके आवेग में आप सत्य का भी ध्यान न रखें। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी भला-बुरा नहीं कर सकता - यह दिगम्बर धर्म का अपमान नहीं, सर्वोत्कृष्ट सम्मान है; क्योंकि वस्तुस्वरूप ही ऐसा है। यह जन-जन की ही नहीं, बल्कि कण-कण की स्वतंत्र सत्ता का महान उद्‌घोष है।''

ऋषिराज बहुत देर तक वस्तु का सत्य स्वरूप समझाते रहे, प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्र सत्ता एवं उसके स्वाधीन परिणमन की सम्यक्स्थिति का परिज्ञान कराते रहे; पर राजश्रेष्ठी की व्याकुलता कम नहीं हुई।

यद्यपि वे कुछ कह न सके, पर उनकी आँखें तो अन्तर को स्पष्ट कर ही रही थीं। उन्होंने जबान से तो कुछ न कहा, पर अश्रुपूरित नेत्रों एवं अवरुद्ध गले से सब-कुछ कह दिया। वे अनिमेष नेत्रों से ऋषिराज को देख रहे थे। वे ऋषिराज के करुणा-विगलित मानस से कुछ आश्वस्त होना चाहते थे, पर उनमें उन्हें असंग वीतरागता के अतिरिक्त कुछ भी न दिखा।

(२)

नगर के निकटस्थ गिरि-गुफा में विराजमान नग्न दिगम्बर सन्त वादिराज के दर्शनार्थ नगरनिवासी उमड़ रहे थे; क्योंकि आज सम्राट भी अपने दरबार के साथ उनके दर्शनार्थ आने वाले थे। जब गुफा के बाहर बहुत भीड़ इकट्ठी हो गई तो कोलाहल सुन ऋषिराज बाहर पधारे।

उगते हुए सूर्य के समान दैदीप्यमान कंचनवर्णी काया, अतीन्द्रियानन्द से तृप्त, शान्त, गुरुगम्भीर तेजोद्दीप्त मुखमण्डल, नवजात शिशु के समान निर्विकार नग्न दिगम्बर वीतरागी निर्भय मुद्रा के धारी ऋषिराज के दर्शन कर प्रजा के साथ सम्राट भी जय-जयकार कर उठे।

सब आश्चर्यचकित एक-दूसरे की ओर देख रहे थे। श्रेष्ठीराज की आँखों से अब भी अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी, पर ये अश्रु आनन्द के थे। मुनिनिन्दा करनेवालों के चेहरों पर हवाइयाँ उड़ रही थीं, पर कोई कुछ बोल नहीं रहा था।

समीपस्थ स्वच्छ शिलाखण्ड पर ऋषिराज के विराजमान होने के बाद नतमस्तक सम्राट भी अपने परिकर के साथ वहीं जमीन पर बैठ गये। जनता भी धीरे-धीरे यथास्थान बैठने लगी। कुछ ही क्षणों में जिसको जहाँ स्थान मिला, वह वहीं बैठ गया।

जनता की मूक याचना से द्रवित हो ऋषिराज की दिव्य-देशना प्रवाहित होने लगी। ऋषिराज कह रहे थे -

"सभी आत्मा स्वयं परमात्मा हैं, परमात्मा कोई अलग नहीं होते। स्वभाव से तो सभी आत्मायें स्वयं परमात्मा ही हैं, पर अपने परमात्मस्वभाव को भूल जाने के कारण दीन-हीन बन रहे हैं। जो अपने को जानते हैं, पहिचानते हैं और अपने में ही जम जाते हैं, रम जाते हैं, समा जाते हैं; वे पर्याय में भी परमात्मा बन जाते हैं।

जब सभी परमात्मा हैं तो फिर कौन छोटा, कौन बड़ा ? सभी समान ही हैं। अपने भले-बुरे का उत्तरदायित्व प्रत्येक आत्मा का स्वयं का है। कोई किसी का भला-बुरा नहीं कर सकता, पर के भला-बुरा करने का भाव करके यह आत्मा स्वयं ही पुण्य-पाप के चक्कर में उलझ जाता है, बँध जाता है। पुण्य और पाप दोनों ही बन्धन के कारण हैं। पाप यदि लोहे की बेड़ी है तो पुण्य सोने की। बेड़ियाँ दोनों ही हैं, बेड़ियाँ बन्धन ही हैं।

धर्म तो वस्तु के स्वभाव का नाम है, उसमें फेरफार करने की बुद्धि ही मिथ्या है, अहंकार है, दु:ख का कारण है, दु:खस्वरूप ही है। **जगत के क्रमनियत परिणमन को ज्ञाता-दृष्टा भाव से स्वीकार कर लेना ही सम्यग्ज्ञान का कार्य है; उसमें हर्ष-विषाद उचित नहीं, आवश्यक भी नहीं।**

भगवान जगत के ज्ञाता-दृष्टा हैं, कर्त्ता-धर्त्ता नहीं। जो जगत को साक्षीभाव से अप्रभावित रहकर देख सके, जान सके; वस्तुत: वही भगवान है। **भगवान बनने का उपाय भी जगत से अलिप्त रहकर साक्षीभाव से ज्ञाता-दृष्टा बने रहना ही है।**

सभी आत्मायें अपने को जानें, पहिचानें; उसी में जम जावें, रम जावें और अनन्त सुखी हों।''

उपदेशामृत से तृप्त सम्राट खड़े हो गये और हाथ जोड़कर विनम्र भाषा में कहने लगे - ''हमारी यह भूमि आपके पदार्पण से धन्य हो गई। जब आपके दर्शन ही भवतापहारी हैं तो वचनामृतों का तो कहना ही क्या ?''

ऋषिराज किंचित् मुस्कराये, फिर बोले -

''किसकी भूमि ? भूमि भूमि की है, यह आज तक न किसी की हुई है और न होगी। भवताप का अभाव तो स्वयं के आत्मा के दर्शन से होता है। दूसरों के दर्शन से आज तक कोई भवमुक्त नहीं हुआ और न कभी होगा। भवतापहारी तो पर और पर्याय से भिन्न निज परमात्मतत्त्व ही है। उसके दर्शन का नाम ही सम्यग्दर्शन है, उसके परिज्ञान का नाम ही सम्यग्ज्ञान है और उसका ध्यान ही सम्यक्चारित्र है। अत: उसका जानना, मानना और ध्यान करना ही भव का अभाव करनेवाला है।''

मस्तक झुकाकर सम्राट ने ऋषिराज की बात को सम्मान दिया और अपनी आन्तरिक उत्सुकता न दबा पाने के कारण उनके मुख से सहज ही निकला -

''हमने तो आपके बारे में सुना था कि आप कुष्ठ···''

उनकी बात पूरी ही न हो पाई थी कि ऋषिराज बोल उठे -

"हम नहीं; हमारी यह देह अवश्य कोढ़ी थी। हम तो देह-देवल (देवालय) में विराजमान भगवान आत्मा हैं, आप भी देह-देवल में विराजमान भगवान आत्मा ही हैं। **मन्दिर के विकृत हो जाने से उसमें विराजमान देवता विकृत नहीं हो जाते।**"

"यह तो ठीक, पर यह देह-देवालय ठीक कैसे हुआ?"

"हम नहीं जानते, हम तो यह भी नहीं जानते कि यह विकृत भी कब और कैसे हुआ? पुण्य-पाप के उदयानुसार यह सब तो अपने-अपने क्रमानुसार होता ही रहता है; हम किस-किस को जानें, किस-किस की चिन्ता करें, हम तो अपने में ही तृप्त हैं।"

"क्या आपने इसके लिए कुछ भी नहीं किया ?"

"पर के परिणमन में हम कर भी क्या सकते थे, आवश्यकता भी क्या थी ?"

"भक्ति, मंत्र, तंत्र··· ?"

"भक्ति, जिनभक्ति तो हमारा दैनिक कर्त्तव्य है, आवश्यक कर्त्तव्य है, उससे इसका क्या लेना-देना ?

देह सम्बन्धी मिथ्या विकल्पों में उलझना ऋषियों का कार्य नहीं। विकल्पों से होता भी क्या है ? पर में कर्त्तृत्व के सभी विकल्प नपुंसक ही होते हैं, उनसे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। हाँ, यदि उनका मेल कभी जगत के सहज परिणमन से सहज ही हो जावे तो अनादिकालीन मिथ्या मान्यतायें और भी पुष्ट हो जाती हैं।"

"तो इसमें आपने कुछ भी नहीं किया ?"

"तत्सम्बन्धी विकल्प भी नहीं; **यदि मुझे ऐसा विकल्प भी होता तो वह मेरे साधुत्व के लिए अभिशाप ही होता।** फिर यह देखिये मेरी कनिष्ठा

अंगुली में अब भी कुष्ठ शेष है। यदि मेरे मिटाने से मिटता तो मैं इसे शेष क्यों रखता ?''

इस सम्पूर्ण संवाद को सुन रही सम्पूर्ण जनता के मुख से एक साथ निकला - ''धन्य है, धन्य है, सच्ची साधुता इसे कहते हैं।''

सम्राट सहित सबसे हृदय गद्‌गद हो गये। आलोचकों के हृदय भी बदल गये। उनमें से एक बोला - ''नकली साधु होता तो सहज सम्पन्न इस प्रसंग से अपने को महान् सिद्ध करने का लोभ संवरण नहीं कर पाता, चाहे उससे मूल जिनधर्म की हत्या ही क्यों न हो जाती ?''

दूसरा कहने लगा - ''आप सत्य कहते हैं, यश के लोभियों ने ही धर्म की मूल भावना को विकृत कर रखा है।''

तीसरा कहने लगा - ''ऋषिराज ने कुछ भी कहा हो, पर यह मूर्ख जगत उनके नाम से इसे चमत्कार के रूप में ही प्रसारित करेगा।''

बाद की बात तो बहुत दूर, उसी समय एक अन्ध भगत ने उठकर ऋषिराज के चरण छुए और ऊँचे स्वर में कहा -

''आप कुछ भी कहो, हम तो इसे आपका चमत्कार ही मानेंगे।'' ●

अन्धश्रद्धा

अंधश्रद्धा तर्क स्वीकार नहीं करती। यही कारण है कि अंधश्रद्धालु को सही बात समझा पाना असंभव नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य है। यदि वह तर्कसंगत बात को स्वीकार करने लगे तो फिर अंधश्रद्धालु ही क्यों रहे? अंधश्रद्धालु को हर तर्क कुतर्क दिखाई देता है। इष्ट की आशा और अनिष्ट की आशंका उसे सदा भयाक्रान्त रखती है। भयाक्रान्त व्यक्ति की विचारशक्ति क्षीण हो जाती है। उसकी इसी कमजोरी का लाभ कुछ धूर्त लोग सदा से ही उठाते आये हैं और उठाते रहेंगे।

- सत्य की खोज, अध्याय ७, पृष्ठ ३६

अक्षम्य अपराध

अगाध पाण्डित्य के धनी मुनिराज श्रुतसागर ने जब बलि आदि मंत्रियों से हुए विवाद का समाचार सुनाया तो आचार्य अकंपन एकदम गम्भीर हो गये। जगत की प्रवृत्तियों से भलीभाँति परिचित आचार्यश्री के मुखमण्डल पर अनिष्ट की आशंका के चिह्न छिपे न रह सके। यद्यपि जबान से उन्होंने कुछ भी नहीं कहा; तथापि उनका मनोगत अव्यक्त नहीं रहा। **सहज सरलता के धनी महात्माओं का कुछ भी तो गुप्त नहीं होता।**

यद्यपि कोई कुछ बोल नहीं रहा था; तथापि गम्भीर मौन पूरी तरह मुखरित था। **शब्दों की भाषा से मौन की भाषा किसी भी रूप में कमजोर नहीं होती, बस उसे समझने वाले चाहिये।**

चेहरे के भावों से ही मनोगत पढ़ लेने वाले श्रुतज्ञ श्रुतसागर को स्थिति की गम्भीरता समझते देर न लगी। आचार्यश्री के चिन्तित मुखमण्डल ने उन्हें भीतर से मथ डाला था; अत: वे अधिक देर तक चुप न रह सके।

''अपराध क्षमा हो पूज्यपाद! अविवेकी अपराधी के लिए क्या प्रायश्चित है ? आज्ञा कीजिये।''

''बात प्रायश्चित की नहीं, संघ की सुरक्षा की है। **ऐसा कौनसा दुष्कर्म है, जो अपमानित मानियों के लिए अकृत्य हो।** जब मार्दव धर्म के धनी श्रुतसागर से भी दिगम्बरत्व का अपमान न सहा गया तो फिर मार्दव धर्म का नाम भी न जाननेवालों से क्या अपेक्षा की जा सकती है ?

मानभंग की पीड़ा उन्हें चैन न लेने देगी। **अपमानित मानी क्रोधित भुजंग एवं क्षुतातुर मृगराज से भी अधिक दु:साहसी हो जाता है। आज संघ खतरे में है।**'' - कहते-कहते आचार्यश्री और भी अधिक गम्भीर हो गये।

आचार्य अकंपन की गुरुतर गम्भीरता देख श्रुतसागर अन्दर से हिल गये। वे जिसे अपनी विजय समझ रहे थे, वह अकंपन को भी कंपा देने वाला अक्षम्य अपराध था - इसका अहसास उन्हें गहराई से हो रहा था। वे स्पष्ट अनुभव कर रहे थे कि आचार्यश्री का अन्तर प्रतिदिन की भाँति प्रायश्चित निश्चित करने में व्यस्त नहीं, अपितु संघ की सुरक्षा की करुणा में विगलित हो रहा है। प्रत्युत्पन्नमति श्रुतसागर को निर्णय पर पहुँचने में अधिक देर न लगी और वे आचार्यश्री के चरणों में नतमस्तक हो बोले -

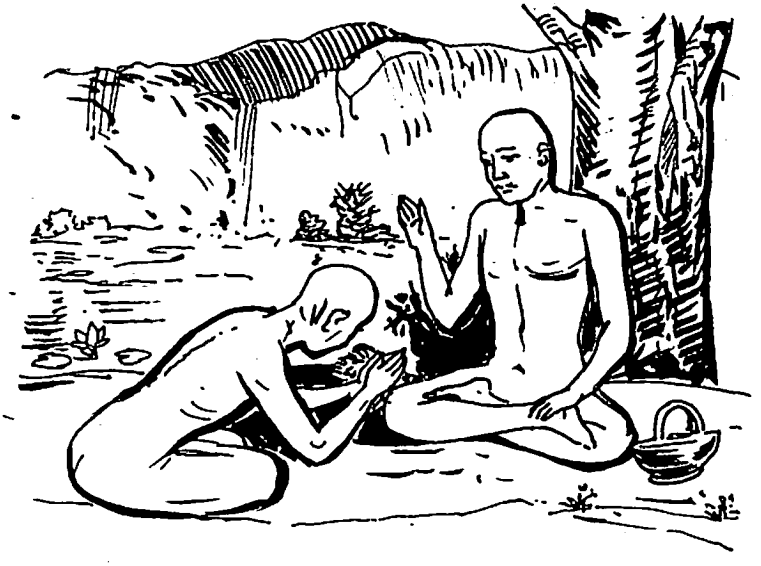

"इस नादान के अविवेक का परिणाम संघ नहीं भोगेगा। मैं आज उसी स्थान पर रात्रि बिताऊँगा, जहाँ बलि आदि मंत्रियों से मेरा विवाद हुआ था - इसके लिए आचार्यश्री की आज्ञा चाहता हूँ।"

"नहीं, यह सम्भव नहीं है। परिणाम की दृष्टि से यह अपराध कितना ही बड़ा क्यों न हो, पर इसमें तुम्हारा धर्मप्रेम ही कारण रहा है। दिगम्बरत्व के अपमान ने तुम्हें उद्वेलित कर दिया और फिर तुम्हें हमारी उस आज्ञा का पता

भी तो नहीं था; जिसमें सभी संघ को मौन रहने का आदेश था, विशेषकर मंत्रियों से किसी भी प्रकार की चर्चा करने का निषेध था। अत: तुम्हें इतना कठोर प्रायश्चित देना मेरा हृदय स्वीकार नहीं करता।''

''पूज्यवर! सवाल प्रायश्चित का नहीं, संघ की सुरक्षा का है। आपने ही तो हमें सिखाया है कि **अनुशासन-प्रशासन हृदय से नहीं, बुद्धि से चलते हैं।**''

''श्रुतसागर के जीवन का मूल्य मैं अच्छी तरह जानता हूँ।''

''कोई भी इतना मूल्यवान नहीं हो सकता कि जिसपर संघ को न्यौछावर किया जा सके। हम आपके इस आप्तवाक्य को कैसे भूल सकते हैं कि **अपराधी को दण्ड देते समय न्यायाधीश को उसके गुणों और उपयोगिता पर ध्यान नहीं देना चाहिए।**''

''जानते हो श्रुतसागर लाखों में एक होता है ? समाज को उसका मूल्य आंकना चाहिये।''

''साधु सामाजिक मर्यादाओं से परे होते हैं। **साधु को श्रुत के सागर से संयम का सागर होना अधिक आवश्यक है।** मैंने वाणी के संयम को तोड़ा है। मौनव्रती साधकों की महानता को वाचाल साधक नहीं पहुँच सकता। मैंने आपकी आज्ञा को भंग किया है। मेरा अपराध अक्षम्य है।''

''पर तुम्हें मेरी आज्ञा का पता ही कहाँ था ?''

''पर श्रुत के सागर को **इतना विवेक तो होना चाहिए था कि राह चलते लोगों से व्यर्थ के विवाद में न उलझे।** मेरा यह अविवेक तो युग के अन्त तक याद किया ही जायेगा, पर मुझे यह सह्य नहीं है कि इतिहास यह भी कहे कि प्रियतम शिष्य के व्यामोह ने आचार्य अकंपन को भी अकंपन न रहने दिया था।

मुझसे जो कुछ भी हुआ सो हुआ, पर मैं अपने गुरु की गुरुता को खण्डित नहीं होने दूँगा। आचार्यश्री को मेरे इस हठ को पूरा करना ही होगा।''

आचार्य अकंपन और भी गम्भीर हो गये। उनके गम्भीर मौन को सम्मति का लक्षण जानकर श्रुतसागर उनके चरणों में झुके, नमोऽस्तु किया और मंगल आशीर्वाद की मौन याचना करने लगे।

आचार्य अकंपन ने काँपते हुए हाथ से श्रुतसागर को आशीर्वाद देते हुए कहा - "मैंने यह सोचा भी न था कि जिसे मैंने एक दिन सम्पूर्ण संघ के समक्ष 'श्रुतसागर' की उपाधि से अलंकृत किया था, उसे किसी दिन इतना कठोर प्रायश्चित्त देना होगा।

प्रिय श्रुतसागर ! तुम ज्ञान की परीक्षा में तो अनेक बार उत्तीर्ण हुए हो, आज तुम्हारे ध्यान की परीक्षा है; जीवन का रहना न रहना तो क्रमबद्ध के अनुसार ही होगा, पर मैं तुम्हारे आत्मध्यान की स्थिरता की मंगल कामना करता हूँ। दूसरों को तो तुमने अनेक बार जीता है। जाओ, अब एक बार अपने को भी जीतो।"

- कहते-कहते आचार्य अकंपन और भी अधिक गम्भीर हो गये।

आज्ञा शिरोधार्य कर जाते हुए श्रुतसागर को वे तबतक देखते रहे, जबतक कि वे दृष्टि से ओझल न हो गये। ●

कोई न कोई राजनीति होगी

किसी व्यक्ति का हृदय कितना ही पवित्र और विशाल क्यों न हो; किन्तु जबतक उसका कोई स्वरूप सामने नहीं आता, तबतक जगत उसकी पवित्रता और विशालता से परिचित नहीं हो पाता है। विशेषकर वे व्यक्ति जो किसी कारणवश उससे द्वेष रखते हों, तबतक उसकी महानता को स्वीकार नहीं कर पाते, जबतक कि उसका प्रबल प्रमाण उनके सामने प्रस्तुत न हो जाय। विरोध के कारण दूर रहने से छोटी-छोटी बातों में प्रगट होनेवाली महानता तो उन तक पहुँच ही नहीं पाती है; जो कुछ पहुँचती भी है, वह तीव्र द्वेष में सहज स्वीकृत नहीं हो पाती है। यदि किन्हीं को कभी किसी कार्य को देखकर ऐसा लगता भी है तो पूर्वाग्रह के कारण समझ में नहीं आती। तथा यदि समझ में भी आवे तो - इसमें भी कोई न कोई राजनीति होगी - यह समझकर यों ही उड़ा दी जाती है; क्योंकि उनकी बुद्धि तो उसके दोष-दर्शन में ही सतर्क रहती है।

सत्य की खोज, अध्याय ३९, पृष्ठ २४०

जागृत विवेक

(१)

बात लगभग दो हजार वर्ष पुरानी है। गिरि गिरनार की गहरी गुफा में अन्तर्मग्न आचार्य धरसेन का ध्यान रात्रि के अन्तिम प्रहर में जब भग्न हुआ तो वे श्रुतपरम्परा की सुरक्षा में चिन्तामग्न हो गये।

वे सोचने लगे — "मैं अब बूढ़ा होता जा रहा हूँ; होता क्या जा रहा हूँ, हो ही गया हूँ; पर अभी तक कोई ऐसा पात्र शिष्य दिखाई नहीं दिया, जो गुरु परम्परा से प्राप्त भगवान महावीर की श्रुतपरम्परा को मुझसे पूर्णत: ग्रहण कर सके। लगता है बुद्धि की हीनता के कारण अब केवल श्रुत के आधार पर सिद्धान्त की सुरक्षा सम्भव नहीं है, अब उसे लिखितरूप से भी सुरक्षित किया जाना चाहिये; पर समझ में नहीं आता कि यह सब सम्भव कैसे होगा ? क्योंकि अब मेरा जीवन ही कितना रहा है? यदि योग्य शिष्य मिल जावे तो उन्हें सब-कुछ सिखाकर लिपिबद्ध करने का आदेश देकर निश्चिन्त हो जाऊँ। **पर मेरे सोचने से क्या होता है? होगा तो वही, जो होना है।**"

सोचते-सोचते वे कुछ निद्रित हुए तो स्वप्न में देखते हैं कि जवान, बलिष्ठ, कर्मठ, शुभ्र वृषभों का एक नम्रीभूत धुरन्धर युगल उनकी ओर चला आ रहा है; आ ही नहीं रहा, आ ही गया है और उनके पावन चरणों में नतमस्तक है।

वे एकदम जागृत हो गये। **विकल्पों की निरर्थकता को गहराई से जाननेवाले आचार्यश्री को लगा कि यह स्वप्न तो मेरे विकल्प को सार्थक सूचित करता-सा प्रतीत होता है।**

(२)

ध्यानमग्न आचार्य धरसेन ने जब नासाग्र पलकों को ऊपर उठाया तो दो उत्साही युवा मुनिराजों को चरणों में नतमस्तक पाया। समागत मुनिराज विनम्र शब्दों में कह रहे थे -

"द्वितीय श्रुतस्कन्ध के विशेषज्ञ आचार्य श्री धरसेन के पवित्र चरणकमलों में सिद्धान्तामृत के पिपासु यतियों का बारम्बार वन्दन नमन स्वीकृत हो।"

अन्तर से मृदु एवं बाहर से कठोर आचार्य धरसेन कहने लगे -

"यदि पात्रता हो तो कुछ भी अलभ्य नहीं, पुरुषार्थियों की पिपासा तृप्त होती ही है; पर सब-कुछ अन्तर की लगन पर निर्भर करता है।"

आचार्यश्री के संकेत को अवधारण करते हुए वे बोले -

"लगन की कमी और पुरुषार्थ की उपेक्षा तो अन्तेवासियों से कभी होगी नहीं; पर पात्रता का निर्णय तो आचार्यश्री को ही करना होगा।"

"हमें तुमसे यही उत्तर अपेक्षित था।"

"आचार्यश्री की कृपा के लिए अनुचर अनुगृहीत हैं।"

दोनों को दो मंत्र देते हुए आचार्यश्री बोले -

"जाओ, सामने की चोटी पर स्थित गुफा में इन मंत्रों की आराधना करो। मंत्र सिद्ध होने पर सर्वाङ्गसुन्दर देवाङ्गनाओं के दर्शन होंगे।"

दोनों मुनिराज हतप्रभ हो गये। वे सोचने लगे -

"देवाङ्गनाओं के दर्शन .... हमें देवाङ्गनाओं से क्या लेना-देना ? आचार्यश्री ने हमें यह ...."

उनके अन्तर के मन्थन से परिचित आचार्यश्री बोले -

"विकल्पों में न उलझो, समय बर्बाद मत करो; जो कहा गया है, उसका पालन करो। जाओ, जाओ....।

रुको, जरा रुको; एक बात ध्यान से सुन लो। यदि कोई शंका उत्पन्न हो तो मेरे पास दौड़े मत चले आना। **'तुम्हारा आत्मा ही तुम्हारा वास्तविक गुरु है'** - इस महामंत्र को याद रखना। अब जाओ, देर न करो..."

(३)

साधना के पक्के ऋषिराजों के समक्ष देवाङ्गनाओं की उपस्थिति में देर न लगी, पर वे सर्वाङ्गसुन्दर न थीं। एक के दाँत सामने को निकल रहे थे तो दूसरी एकाक्षी थी। उन्हें देख ऋषियुगल संकोच में पड़ गये। वे सोचने लगे -

"आचार्यश्री ने तो कहा था कि सर्वाङ्गसुन्दर देवाङ्गनाओं के दर्शन होंगे, पर ···। कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य है। क्यों न चलकर गुरुदेवश्री से ही जान लें ? नहीं, नहीं; उन्होंने आते समय कहा था कि कहीं कुछ शंका पड़े तो मेरे पास भागे-भागे मत आना। **'तुम्हार आत्मा ही तुम्हारा वास्तविक गुरु है'** - इस महामंत्र को याद रखना; अतः स्वयं ही इसके कारण की खोज करना चाहिए।"

उन्होंने अपने-अपने मंत्रों का गहराई से निरीक्षण किया तो पाया कि एक मंत्र में एक अक्षर की कमी है और दूसरे में एक अक्षर अधिक है। वे एकबार फिर संकोच में पड़ गये। उनका अन्तर दुविधा में उलझ गया। वे सोचने लगे -

"क्या इन मंत्रों को अपने विवेक के आधार पर ठीक कर लिया जाये? **वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, अनुभववृद्ध, गुरुपरम्परा से प्राप्त समृद्ध श्रुतपरम्परा के धनी आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त मंत्रों में सुधार करने का साहस यौवन से उत्पन्न दुस्साहस तो नहीं होगा?"**

गहरे विचार-मंथन के बाद दोनों ही युवा ऋषि स्वतंत्ररूप से स्वविवेकानुसार मंत्रों को शुद्ध कर लेने के निर्णय पर पहुँचे और ध्यानमग्न हो गये।

सफलता विवेक के धनी कर्मठ बुद्धिमानों के चरण चूमती है। सर्वाङ्गसुन्दर देवाङ्गनाएँ उपस्थित हो कहने लगीं -

"हम आपकी क्या सेवा कर सकती हैं ?"

"कुछ नहीं; **सेवकों का संग्रह और सेवा हमें अभीष्ट नहीं। हमारी आराधना का अभीष्ट तो आचार्यश्री की आज्ञा का पालन मात्र था।"**

(४)

दोनों युवाऋषि आचार्यश्री के चरणों में उपस्थित हुए। नमन करते हुए युवा ऋषियों को मंगल आशीर्वाद देते हुए आचार्यश्री बोले -

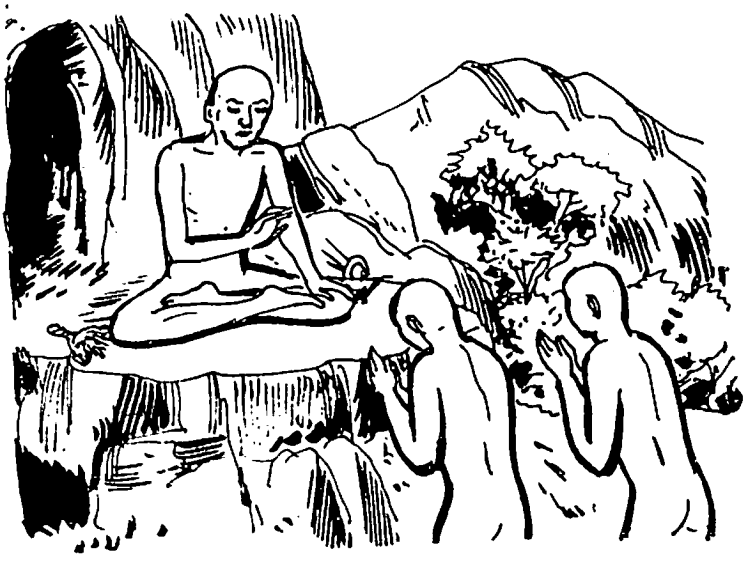

"पुष्पों के समान दन्तपंक्ति के धनी पुष्पदन्त और अभूतपूर्व बल के धनी भूतबली को पाकर आचार्य धरसेन कृतकृत्य है।"

अपने नये नाम सुनकर युवा ऋषि चकराये, पर देह में समागत परिवर्तन को लक्ष्य कर सब-कुछ समझ गये। अत्यन्त विनम्र पुष्पदन्त और भूतबली आचार्यश्री से मंत्रों के शुद्ध कर लेने के अपराध के लिए क्षमायाचना के साथ जो कुछ घटा था, उसे सुनाने लगे तो गुरुगम्भीर गिरा से आचार्यश्री कहने लगे-

"यह सब सुनाने की आवश्यकता नहीं है, हमारे लिए कुछ भी अगम्य नहीं है। हमें ऐसे ही विनयशील, विवेक के धनी और प्रतिभाशाली अन्तेवासियों की आवश्यकता थी; जिन्हें पूर्वजों से प्राप्त श्रुतसम्पत्ति समर्पित

की जा सके। विनय के बिना तो विद्या प्राप्त होती ही नहीं है; पर विवेक और प्रतिभा भी अनिवार्य है, इनके बिना भी विद्यार्जन असम्भव है। गुरु के प्रति अडिग आस्था का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, पर वह आतंक की सीमा तक न पहुँचना चाहिए; अन्यथा वह विवेक को कुण्ठित कर देगी।

समागत समस्याओं का समुचित समाधान तो स्व-विवेक से ही सम्भव है; क्योंकि गुरु की उपलब्धि तो सदा सर्वत्र सम्भव नहीं। परम्पराएँ भी हर समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकतीं; क्योंकि एक तो समस्याओं के अनुरूप परम्पराओं की उपलब्धि सदा सम्भव नहीं रहती; दूसरे, परिस्थितियाँ भी तो बदलती रहती हैं।

यद्यपि विवेक का स्थान सर्वोपरि है; किन्तु वह विनय और मर्यादा को भंग करने वाला नहीं होना चाहिए। विवेक के नाम पर कुछ भी कर डालना तो महापाप है; क्योंकि निरंकुश विवेक पूर्वजों से प्राप्त श्रुतपरम्परा के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।

क्षेत्र और काल के प्रभाव से समागत विकृतियों का निराकरण करना जागृत विवेक का ही काम है, पर इसमें सर्वाङ्ग सावधानी अनिवार्य है।

हमारी प्रसन्नता का कारण यह है कि तुमने स्वविवेक से मंत्रों में सुधार तो किया, पर विनय और मर्यादा को भंग नहीं किया। मंत्रों के सुधारने के पहले बहुत कुछ सोचा, पर मेरे प्रभाव से आतंकित न हुये और सुधार सत्य सिद्ध हो जाने पर भी अहंकार में नहीं चढ़े। सदाचारी, सन्तुलित-विवेक और विनयशील मर्यादाओं से समृद्ध ऐसे शिष्यों की ही कामना मुझे थी।

अब मैं तुम्हें गुरुपरम्परा से प्राप्त सम्पूर्ण श्रुत ही नहीं, आचार्यपद भी यथासमय समर्पित कर निश्चिन्त हो जाने के लिए कृतसंकल्प हूँ।" ●

अभागा भरत

(१)

भरताधिपति सम्राट भरत के दरबार में जब एक के बाद एक तीन शुभ समाचार आये तो सम्पूर्ण दरबार आनन्दातिरेक से झूम उठा, आनन्द-सागर में डूब गया; पर सम्राट भरत जल से भिन्न कमलवत् अलिप्त ही बने रहे।

यह बात नहीं है कि आदितीर्थंकर ऋषभदेव को सर्वज्ञता की प्राप्ति के शुभ समाचार ने उन्हें प्रफुल्लित नहीं किया था; किया था, अवश्य किया था; इससे तो वे रोमांचित हो उठे थे।

हाँ, यह बात अवश्य है कि पुत्ररत्न की प्राप्ति के समाचार की कुछ भी प्रतिक्रिया उनके वदनाम्बुज पर लक्षित नहीं की जा सकी थी; किन्तु जब चक्ररत्न की प्राप्ति का समाचार मिला, तब तो वे एकदम गम्भीर हो उठे, उनका आनन्दातिरेक कपूर की भाँति काफूर हो गया।

मुखमण्डल पर प्रतिबिम्बित भरत के अन्तरंग से अपरिचित सम्पूर्ण दरबार यद्यपि आनन्दमग्न था, तथापि तीव्रतम निरीक्षण शक्ति से सम्पन्न महामात्य से कुछ भी छिपा न रह सका। **जगत में ऐसा कौनसा प्रमेय है, जो सतर्क प्रज्ञा को अगम्य हो।**

दरबार की समाप्ति पर एकान्त पाकर महामात्य ने कहा -

''आह्लाद के अवसर पर सम्राट की गम्भीरता का रहस्य क्या यह क्षुद्र सेवक भी जान सकता है ?''

''क्या महामात्य को भी हृदय का रहस्य वाणी से बताना होगा ?''

"सम्राट के इस विश्वास को यह अनुचर अपनी अनुपम निधि समझता है, पर **पर्यायों के क्रमनियत परिणमन को कौन टाल सकता है ?** सम्राट को इस महा सत्य पर भी विचार करना चाहिए। **अपने नियतक्रम में घटनेवाली घटनाओं को साक्षीभाव से स्वीकार करना ही दृष्टिवन्त का कर्त्तव्य है।**"

"**श्रद्धास्पद सत्य को स्वीकार करने के लिए राग बाध्य नहीं होता** - इस पर्यायगत सत्य को भी तो टाला नहीं जा सकता। निरन्तर प्राप्त होनेवाली भाग्योदय की बधाइयाँ स्वीकार करते-करते अब यह अभागा भरत ऊब गया है।"

"**रुचि की प्रतिकूलता में सद्भाग्य भी दुर्भाग्यवत् फलते हैं।** जिस चक्ररत्न की प्राप्ति को जगत बड़ा भारी भाग्योदय समझता है, जिनध्वनि श्रवण में अन्तरायस्वरूप होने से उसी की उपलब्धि ने आज राजाधिराज को आन्दोलित कर दिया है - यह बात मैं अच्छी तरह जानता हूँ; पर सागर को अपनी गम्भीरता को पहिचानना होगा। इससे अधिक कुछ कहना अनुचर उचित नहीं समझता है, क्योंकि वह अपनी सीमाओं से अपरिचित नहीं है।"

"महामात्य की समयोचित सलाह के लिए भरत आभारी है।"

(२)

दिग्विजय के लिए प्रस्थान के अवसर पर मंगल-तिलकोपरांत जब भरत राजमाता यशस्वती नन्दा के चरणों की वन्दना कर रहे थे; तब उनकी आँखों से प्रवाहित अश्रुधारा ने राजमाता के चरण पखार दिये।

मंगल प्रस्थान के अवसर पर प्रवाहित अश्रुधारा में राजमाता को ससम्मान दिग्विजय में कुछ अमंगल प्रतीत हुआ।

अपने को सँभालते हुए वे गरजकर बोलीं -

"भरतक्षेत्र के भावी भाग्यविधाता, आद्य चक्रवर्ती सम्राट, नन्दा के दुग्ध से पुष्ट, भाग्यशाली ऋषभपुत्र की इस कातरता का कारण राजमाता जानना चाहती हैं; क्योंकि उन्हें यह इष्ट प्रतीत नहीं होती।"

"भरत को और चाहे जो कुछ कहें, पर भाग्यशाली नहीं। आज इस अभागे भरत को अपने सौ भाइयों एवं उन नागरिकों के भाग्य से ईर्ष्या हो रही है; जिन्हें आज से ही प्रतिदिन दिन में तीन-तीन बार छह-छह घड़ी भगवान ऋषभदेव की दिव्यध्वनि सुनने का अवसर प्राप्त होगा और उसी समय तुम्हारा यह अभागा भरत साम-दाम-दण्ड-भेद की राजनीति में उलझा होगा, युद्ध का संचालन कर रहा होगा।"

भरत के अन्तर्द्वन्द्व ने राजमाता को आन्दोलित कर दिया। वे एकदम गम्भीर हो गईं, पर कुछ बोली नहीं। उनके गम्भीर मौन ने जो कुछ कहा, उसके उत्तर में भरत कहने लगे -

"हो सकता है यशस्वती राजमाता के गौरव को मेरा यह स्पष्टीकरण स्वीकृत न हो, पर भरत की वात्सल्यमयी माँ को तो ..."

भरत अपनी बात पूरी भी न कर पाये थे कि राजमाता का शौर्य भी विगलित हो उठा और वे बोलीं —

"बेटा, मैं तेरी वेदना जानती हूँ, पर भरत का भारत अखण्ड होना चाहिए, छह खण्डों में विभाजित नहीं।"

"भरत अपना कर्त्तव्य पहिचानता है। **कर्त्तव्य की ठोकर बुद्धि ही बर्दाश्त कर सकती है, हृदय नहीं।**"

"चक्रवर्ती की आंखों में आँसू शोभा नहीं देते।"

"माँ के सामने भी ?"

"बात माँ की नहीं, राजमाता की है।"

(३)

जनभावना जानने के लिए सम्राट भरत के गुप्तचर सम्पूर्ण आर्यावर्त्त में निरन्तर सक्रिय थे। जहाँ भी सेना का पड़ाव होता, रात्रि में गुप्तचरों से प्राप्त सूचनाओं पर उच्चस्तरीय मन्त्रणा चला करती थी।

गुप्तचर विभाग के अध्यक्ष ने आज का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा -

"जो कार्य वर्षों के घमासान युद्धों से सम्भव न हो सका, वह कल की घटना से सम्पन्न हो गया। आज सारा आर्यावर्त्त सम्राट भरत के भाग्य की सराहना कर रहा है, उनके सौभाग्य से अभिभूत है।"

"कल ऐसा क्या घटा ?"

"आप अर्द्धरात्रि में भगवान ऋषभदेव के दर्शन करने जो पधारे थे। उस अवसर पर आपके निमित्त से भगवान की दिव्यध्वनि भी असमय में प्रसारित हुई थी।"

"इससे राजनीति का क्या लेना-देना ? यह तो मेरी व्यक्तिगत रुचि का कार्य है।"

"**राजनीति अपना रस सब जगह से ग्रहण करती है। देश की अखंडता के लिए मात्र जमीन ही जीतना जरूरी नहीं होता, जनता का दिल भी जीतना होता है। धर्मप्राण जनता धार्मिक सद्भाग्य से ही समर्पित होती है** - सम्राट को यह नहीं भूलना चाहिए।"

"नहीं, मैं अपनी व्यक्तिगत भक्ति का राजनैतिक लाभ नहीं उठाना चाहता।"

"यह आपकी महानता है, पर **आपके चाहने न चाहने से क्या होता है ? सौभाग्य का उदय हो तो लाभ मिलता ही है।**"

"मैं नहीं चाहता कि भविष्य का इतिहास यह कहे कि भरत का जिनेन्द्र-दर्शन भी राजनैतिक कार्य था।"

"**चाह आज तक किसी की पूरी नहीं हुई।** आज का कण-कण आपके सौभाग्य की महिमा से गुंजायमान हो रहा है।"

"भीड़ की मनोवृत्ति भी क्या गजब की होती है, प्रतिदिन दिन में तीन-तीन बार भगवान की दिव्यध्वनि का लाभ लेनेवाले भाग्यशाली लोग भी अपने को अभागा और जीवन में अबतक एकाध बार ही लाभ लेनेवाले मुझ जैसे अभागे को भाग्यवान मान रहे हैं - इसे मैं क्या कहूँ ?

बदलिये इस विषय को - इसकी चर्चामात्र मुझे आन्दोलित कर देती है, भगवान की वाणी का विरह और भी तीव्र हो जाता है।

जब-जब जनता मुझे भाग्यशाली होने की बधाइयाँ देती है, तब-तब यह अभागा भरत उन्हें प्रसन्नता से स्वीकार भी नहीं कर पाता है - क्या इसी का नाम सद्भाग्य है ?

नहीं, नहीं; कदापि नहीं। दुनिया कुछ भी कहे, पर भरत भाग्यवान नहीं, अभाग ही है।" ●

सहज ज्ञाता-दृष्टा

नहीं; देखो नहीं, देखना सहज होने दो; जानो नहीं, जानना सहज होने दो। रमो भी नहीं, जमों भी नहीं; रमना-जमना भी सहज होने दो। सब-कुछ सहज, जानना सहज, देखना सहज, जमना सहज, रमना सहज। कर्त्तृत्व के अहंकार से ही नहीं, विकल्प से भी रहित सहज ज्ञाता-दृष्टा बन जाओ। - **सत्य की खोज : अध्याय ३३, पृष्ठ २०३**

उच्छिष्ट भोजी

(१)

यशस्वती माँ नन्दा आज आनन्दातिरेक में झूम रही थीं। क्यों न झूमतीं, आखिर उनका बेटा छह खण्ड पृथ्वी को जीतकर घर वापस आ रहा था। विश्वविजेता राजाधिराज चक्रवर्ती सम्राट भरत की जय के नारों से आकाश गूँज रहा था। यद्यपि अभी ससैन्य भरत ने अयोध्या में प्रवेश नहीं किया था; तथापि उनके जयघोषों की ध्वनि राजमहल की अट्टालिकाओं में स्पष्ट सुनाई दे रही थी।

यद्यपि उनकी दिग्विजय की सफलता के समाचार समय-समय पर राजमाता को प्राप्त होते रहे थे, **तथापि माँ का हृदय समाचारों से कब तृप्त हुआ है ? उसे तो सम्मिलन से ही सन्तोष होता है।**

बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं के नमन के भार से भरित गुरुगम्भीर भरत ने जब राजमहल में प्रवेश किया तो स्वागत के लिए परिजनों से घिरी हुई राजमाता को मंगल कलश लिए सिंहद्वार पर उपस्थित पाया।

भरत माँ के चरणों में पूर्णत: झुक ही न पाये थे कि राजमाता ने उन्हें आलिंगनबद्ध कर लिया; किन्तु दिग्विजयी सम्राट के भाल पर जो गर्व तथा व्यवहार में जो उत्साह एवं उत्तेजना देखी जानी चाहिए, राजमाता को भरत में वह कुछ दिखाई नहीं दिया; अपितु एक गहरे अवसाद तथा उत्तरदायित्व के भार से भरित गम्भीरता के दर्शन हुए।

राजमाता का उत्साह कुछ ठंडा पड़ा, पर वे अपने को सँभालती हुई बोलीं - "भरत! यह क्या है?"

"कुछ नहीं, राजमाता की आज्ञा का पालन हो चुका है। आज भरत का भारत अखण्ड है।"

"पर सम्राट का चित्त विभाजित···"

"चित्त कोई जमीन नहीं, जिसे बल से, वैभव से, पुण्य-प्रताप से जीत लिया जाये। चित्त को जीत लेनेवालों को छह खण्डों की नहीं, अखण्ड आत्मा की प्राप्ति होती है।"

"तुम्हें क्या हो गया है ? ये कैसी बहकी-बहकी बातें कर रहे हो ?"

"मुझे क्या हुआ ? कुछ भी तो नहीं हुआ। ये बातें मात्र बहक नहीं हैं, परमसत्य हैं माँ ! **अखण्ड आत्मा की उपलब्धि ही जीवन की सार्थकता है।**"

"तुम्हें पता है, तुम छह खण्डों को भोगने वाले प्रथम चक्रवर्ती सम्राट हो ?"

"नहीं माँ नहीं, मुझे भी भ्रम था; पर जब मैं दिग्विजय के अवसर पर जगप्रसिद्ध शिला पर अपना नाम लिखने गया तो वह शिला उन चक्रवर्तियों के नामों से भरी पड़ी थी; जिन्होंने अब तक इस भरत के छह खण्डों को भोगा था। मुझे एक चक्रवर्ती का नाम मिटाकर अपना नाम लिखना पड़ा। तब मुझे पता चला कि मैं जिस वसुधा को अभुक्त समझ रहा था, वह उच्छिष्ट है; मैं अभुक्त भोजी नहीं, उच्छिष्ट भोजी हूँ।

नाम की अमरता की नश्वरता का ज्ञान भी मुझे उस समय ही हुआ। मैंने सोचा - क्या मेरा नाम यहाँ सदा ही लिखा रहेगा ?

नहीं, कदापि नहीं; भविष्य का कोई चक्रवर्ती इसीप्रकार आयोगा और मेरा नाम मिटाकर अपना नाम लिख जायेगा।

माँ! मैं उच्छिष्ट भोजी हूँ, उच्छिष्ट भोजी।"

राजमाता ने दृढ़ता से कहा - "नहीं, कदापि नहीं; मेरा भरत उच्छिष्ट भोजी नहीं हो सकता।"

भरत समझाते हुए बोले - "माँ, **भावुकता से तथ्य नहीं बदला करते।** मेरे प्रति स्नेह से अभिभूत आपका हृदय यह सत्य स्वीकार नहीं कर पा रहा है। **सत्यासत्य का निर्णय हृदय से नहीं, बुद्धि से - विवेक से होता है।**"

"भरत की माँ भावुक हो सकती है, पर राजमाता नहीं। उच्छिष्ट की परिभाषा राजमाता अच्छी तरह जानती है।"

"क्या वह परिभाषा भरत भी जान सकता है ?"

"क्यों नहीं ? उच्छिष्ट भोग भीख में प्राप्त होते हैं, भुजबल से नहीं। भरत को यह साम्राज्य भीख में नहीं मिला, उसने इसे भुजबल से प्राप्त किया है; अत: इसे उच्छिष्ट नहीं कहा जा सकता।"

"उच्छिष्ट भोजन के लिए भी तो प्राणी लड़ते देखे जाते हैं। अन्तत: जो जीतता है, उच्छिष्ट भोजन भी उसे भुजबल से ही प्राप्त होता है।"

"नहीं, नहीं; यह तुम्हारे पुण्य का प्रताप है, पुण्य का फल है।"

"उच्छिष्ट भोजन भी पुण्य के बिना नहीं मिलता। वह भी सबको सहज कहाँ उपलब्ध रहता है ?"

"तुम तो बहस करते हो?"

"माँ ! बात बहस की नहीं, सत्य समझने की है। फिर यह मेरे भुजबल का फल भी तो नहीं, भुजबल से तो इसे भुजबली ने अर्जित किया था। आपके

न्यायबल से तो यह साम्राज्य उसी का है, बाहुबली का ही है। कहाँ वह सौभाग्यशाली बाहुबली, जिसने इस भूमि को जीतकर भी छोड़ दिया और कहाँ मैं, जो उसकी छोड़ी हुई उच्छिष्ट भूमि का उपभोग करने को तैयार हूँ ?

क्या मैं अब भी तुम्हारी परिभाषा में उच्छिष्ट भोजी नहीं हूँ?''

''धन्य है, धन्य है; बेटा ! तेरा वैराग्य धन्य है। यह जगत तेरी यह वैराग्य परिणति देखकर जबतक पृथ्वी पर चाँद और सूरज रहेंगे; तबतक तेरी धवल कीर्ति यह कहकर गायेगा कि —

भरतजी घर में ही वैरागी, वे तो अन-धन सबके त्यागी ॥ टेक॥
कोड़ अठारह तुरंग हैं जाके, कोड़ चौरासी पागी ।
लाख चौरासी गजरथ सोहे, तो भी भये नहिं रागी ॥ भरतजी. ॥
तीन करोड़ गोकुल घर सौहैं, एक करोड़ हल साजै ।
नव निधि रतन चौदह घर जाके, मन वांछा सब भागी ॥ भरतजी. ॥
चार कोड़ मण नाज उठै नित, लोण लाख दश लागै ।
कोड़ थाल कंचन मणि सोहैं, नाहीं भया सोई रागी ॥ भरतजी. ॥
ज्यों जल बीच कमल अन्तःपुर नाहिं भये वे रागी ।
भविजन होय सोइ उर धारो, सोई पुरुष बड़भागी ॥ भरतजी. ॥''

''पर माँ ! क्या यह भी सत्य होगा ?''

''क्यों नहीं ?''

''क्या इसी का नाम वैराग्य है ? क्या भरत का यह वैराग्य बाहुबली एवं वृषभसेन जैसे ऋषभपुत्रों के वैराग्य की टक्कर में ठहर सकेगा ? बता माँ, तू ही बता ! तेरी कोख से जन्मा वृषभसेन क्या इस भरत से कम भाग्यशाली और वैरागी है, जो पूज्य पिताश्री भगवान ऋषभदेव से दीक्षित होकर उनका प्रथम गणधर हो गया है ?

माँ यशस्वती नन्दा के बेटे वृषभसेन एवं सुनन्दा के बेटे बाहुबली के सौभाग्य एवं वैराग्य की टक्कर में यह अभागा उच्छिष्ट भोजी भरत कहीं ठहर सकेगा क्या ?''

''बेटा···''

''माँ, तेरे भरत का राग चाहे उसके वश की बात न हो; पर उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान - विवेक धोखा नहीं खा सकता। भले ही भरत इस चक्रवर्त्तित्व को छोड़ न सके, पर इसमें रहकर गर्व अनुभव नहीं कर सकता, इसमें रम नहीं सकता।

चक्रवर्त्तित्व भरत का गौरव नहीं; मजबूरी है, मजबूरी···। ●

विवेक और अविवेक का खेल

जहाँ विवेक है, वहाँ आनंद है, निर्माण है और जहाँ अविवेक है, वहाँ कलह है, विनाश है। समय तो एक ही होता है; पर जिससमय अविवेकी निरन्तर षड्यन्त्रों में संलग्न रह बहुमूल्य नरभव को यों ही बरबाद कर रहे होते हैं; उसीसमय विवेकीजन अमूल्य मानव भव का एक-एक क्षण सत्य के अन्वेषण, रमण एवं प्रतिपादन द्वारा स्व-पर हित में संलग्न रह सार्थक व सफल करते रहते हैं। वे स्वयं तो आनन्दित रहते ही हैं, आसपास के वातावरण को भी आनन्दित कर देते हैं।

इसप्रकार क्षेत्र और काल एक होने पर भी भावों की विभिन्नता आनन्द और क्लेश तथा निर्माण और विध्वंस का कारण बनती है - यह सब विवेक और अविवेक का ही खेल है।

- सत्य की खोज, अध्याय ३३, पृष्ठ १९९

परिवर्तन

(१)

"पशु की अपेक्षा यदि इस मनुष्य को कुछ सुविधाएँ प्राप्त हैं, तो असुविधाएँ भी कम नहीं। यदि पशु को पैतृक सम्पत्ति प्राप्त करने की सुविधा नहीं है, तो साथ ही वह परम्पराओं की गुलामी से भी मुक्त है; पर इस सभ्य कहलाने वाले मानव जगत को यदि उत्तराधिकार में सम्पत्ति मिलती है तो साथ में परम्परागत रूढ़ियों की गुलामी भी विरासत में प्राप्त होती है।

जब मैंने उत्तराधिकार में प्राप्त परम्परागत सम्पत्ति को ही ठुकरा दिया है, उससे कोई लगाव नहीं रखा; तो फिर इन सम्प्रदायगत बेड़ियों में कब तक जकड़ा रहूँगा? परमसत्य की उपलब्धि के साथ ही इन्हें तोड़ फेंकना चाहिये था, पर साथियों का राग भी कितना विचित्र होता है कि मुझे अभी तक इनमें जकड़े हुए है!

सम्प्रदाय में रहकर सम्प्रदाय के साथियों को सत्य समझाना सरल होने पर भी उनमें क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना सम्भव नहीं है। पक्ष का व्यामोह भी कितना जटिल होता है! यह मार्ग सही नहीं है - यह स्वीकार करके भी इसे छोड़ने की कल्पना भी लोगों को आंदोलित कर देती है। **बाड़े का बन्धन असह्य प्रतीत होने पर भी बाड़े की सीमा का उल्लंघन करने की कल्पना भी सामान्यजनों को कँपा देती है।**

झुंड के साथ परिवर्तन की कल्पना में इतने दिन व्यर्थ ही गँवा दिये। **सत्य के आराधक क्रान्तिकारियों को सिंहवृत्ति ही शोभती है। साथियों की कल्पना उसके शौर्य को प्रतिबन्धित करती है।**

अनुयायी कभी साथ नहीं देते, उनका काम तो अनुसरण करना है। मैंने अनुयायियों को साथी समझ रखा था। इसी कारण इतने दिन अपने मन के विरुद्ध इनमें उलझा रहा। साथी तो कोई है ही नहीं; अनुयायियों का पता भी तब चलेगा, जब मैं अपनी राह पर एकाकी ही चल पड़ूँगा; जो सच्चे अनुयायी होंगे, वे आयेंगे ही।

मोह के सूक्ष्म तन्तु में भी क्यों उलझना ? जिन्हें आना हो, आवें; न आना हो, न आवें; मुझे उनसे क्या ? मैं तो पर से भिन्न, निराला चेतन तत्त्व हूँ, मुझे पर से क्या ?

तो फिर आज मैं सबसे साफ-साफ कह ही देता हूँ। कहने की भी क्या आवश्यकता है ? फिर वही बातें होंगी कि कुछ दिन और रुक जाइये। फिर काल्पनिक कठिनाइयों का लम्बा-चौड़ा ब्यौरा - यह सब सुनते-सुनते थक गया हूँ। मनुष्य भव के अमूल्य क्षण यों ही उलझन में बीते जा रहे हैं। अब यह बोझा मुझसे न ढोया जाएगा।

जब मुझे किसी का साथ चाहिए ही नहीं तो फिर किसी से कुछ कहने का प्रयोजन ही क्या रह जाता है ? कल महावीर जयन्ती (वि.सं. १९९१) का पावन अवसर है और सौभाग्य से यह भगवान पार्श्वनाथ का पावन चित्र भी उपलब्ध है ही। बस, इसके सामने कल इस मुँहपट्टी को फेंक दूँगा और अपने को दिगम्बर जिनधर्मानुयायी अव्रती श्रावक घोषित कर दूँगा।

यदि लोगों से मन की बात कहूँगा, तो पहले तो तैयार ही न होंगे; यदि हो भी गये तो परिवर्तन के लम्बे-चौड़े कार्यक्रम बनाने के चक्कर में रहेंगे। **आत्मधर्म तो दर्शन की वस्तु है, उसे प्रदर्शन से क्या प्रयोजन ?**

यह स्थान भी तो मेरे इन विचारों के अनुकूल - एकदम सुनसान, शान्त, एकान्त है। लगता है परिवर्तन के पाँचों समवाय समुपस्थित हैं। भावना की उग्रता भी यह बता रही है कि काल पक गया है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव - सभी की अनुकूलता परिवर्तन के नियतक्रम को अभिव्यक्त कर रही है।''

- काठियावाड़ के कोहिनूर स्थानकवासी सम्प्रदाय के प्रभावशाली अध्यात्मप्रवक्ता श्री कानजी मुनि के अन्तर में आज निरन्तर यह विचार-प्रवाह उमड़ रहा था, जिसने उन्हें ब्रह्ममुहूर्त तक एक पल को भी सोने नहीं दिया था।

यद्यपि आज उनके पलक भी न झपके थे, पर जागरण की थकान उनके मुखमण्डल पर रंचमात्र भी न थी; अपितु जागरण का अद्‌भुत तेज स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा था। उनका तेजोद्दीप्त मुखमण्डल स्पष्ट बता रहा था कि आज़ कुछ अद्‌भुत घटित हुआ है, अद्‌भुत घटित होगा। पर **चेहरे की भाषा पढ़ना हर कोई थोड़े ही जानता है, उसके लिए तीक्ष्ण प्रज्ञा अपेक्षित है।**

(२)

विचारों ने आकार ग्रहण किया और 'कानजी मुनि' 'आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी' के रूप में परिवर्तित हो गये। परिवर्तन का यह समाचार पेट्रोलियम पदार्थ में लगी आग के समान तूफानी गति से सम्पूर्ण काठियावाड़ में पहुँचा तो स्थानकवासी सम्प्रदाय में खलबली मच गई।

नगर-नगर में, गाँव-गाँव में, जहाँ देखो; वहाँ यही चर्चा थी। साम-दाम-दण्ड-भेद से, जैसे भी बने; उन्हें वापिस लाने के लिए उपक्रम आरम्भ हो गये थे। वातावरण एकदम उत्तेजित हो गया था। तूफानी उत्तेजना की हिलोरें मर्यादा की सीमा का उल्लंघन करने में तत्पर दिखाई देने लगी थीं।

झुण्ड के झुण्ड लोग उनके पास आते, समझाते, मनाते; डराते-धमकाते भी; पर उन पर कोई असर न होता; क्योंकि वे इस पथ पर बिना सोचे-समझे थोड़े ही चल पड़े थे, वर्षों के सोच-विचार के बाद समझ-बूझ कर ही उन्होंने यह अडिग कदम उठाया था। रही बात धमकियों की, सो धमकियाँ तो महापुरुषों के निश्चय को और भी अधिक दृढ़ कर देती हैं। वे तो हथेली पर जान रखकर निकले थे, उन्हें कौन विचलित कर सकता था?

(३)

शक्तिसम्पन्न एवं प्रतिष्ठित व्यक्तियों का एक ग्रुप उनके पास पहुँचा। उसमें वे सभी प्रकार के व्यक्ति थे, जो उन्हें किसी भी रूप से प्रभावित कर सकते थे, विचलित कर सकते थे। यदि मनाने वाले थे, तो डराने वाले भी थे; विनम्र थे, तो अक्खड़ भी थे; नर्म-गर्म सभी थे।

उनमें से एक बोला - "यह आपने ठीक नहीं किया, इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा।"

शान्तभाव से स्वामीजी ने उत्तर दिया - "ठीक क्या है और क्या नहीं - यह हम अच्छी तरह से जानते हैं। रही बात परिणाम की, सो परिणाम से भी हम अपरिचित नहीं हैं। जिस परिणाम की तुम बात कर रहे हो, उसकी तो हमने कभी चिन्ता ही नहीं की; पर हम जो कर रहे हैं, उसके परिणाम में तो अनन्त संसार का अभाव ही होने वाला है। हमारा **यह भव, भव का अभाव करने के लिए है, किसी पक्ष या सम्प्रदाय के पोषण के लिए नहीं।**"

व्यंग्य करता हुआ दूसरा बोला - "भव का अभाव तो होगा ही; क्योंकि यह भव (शरीर) बिना रोटियों के तो चलने वाला है नहीं।"

"हमने घर रोटियों के लिए नहीं छोड़ा था। कम से कम आप लोगों को तो यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि हमारे घर रोटियों की कोई कमी नहीं थी। **रोटियों की चिन्ता करने वाले घर नहीं छोड़ा करते। तुम रोटियों की बात करते हो; जो चिन्तामणि मुझे प्राप्त हुआ है, उसके लिए मैं**

सम्प्रदाय एवं उसका गुरुत्व तो क्या, चक्रवर्ती की सम्पदा एवं तीर्थंकर जैसा गुरुत्व भी तृणवत् त्याग सकता हूँ। मुझे अशरीरी होने का मार्ग मिल गया है, अब मैं इस शरीर की क्या चिन्ता करूँ?''

धमकी देता हुआ तीसरा बोला - ''हम सब देख लेंगे, पेट बातों से नहीं भरता। देखें कौन आता है आपके पास? हम अपने सम्प्रदाय को यों ही नहीं बिखर जाने देंगे।''

स्वामीजी के गम्भीर व्यक्तित्व को इसप्रकार की भाषा सुनने की आदत ही न थी; क्योंकि आज तक तो उन्होंने प्रशंसा और स्तुतियाँ ही सुनी थीं। अत: उनकी गम्भीरता ने उपेक्षारूप मौन का आकार ग्रहण किया और वे समयसार के पन्ने उलटते हुए उसके स्वाध्याय में मग्न हो गये।

बात समाप्त होते देख विनम्रता के शस्त्रों से सुसज्जित चौथा बोलने लगा - ''नहीं महाराज! ये तो कुछ समझते नहीं, चाहे जो बक देते हैं। इनकी बात का ख्याल न कीजिये। आपके सम्प्रदाय छोड़ने के समाचार ने इन्हें उद्वेलित कर दिया है; अत: ये होश खो बैठे हैं। इनकी बात का बुरा न मानिये। आप जो कुछ कहेंगे, हम सब वही करेंगे। आप खूब पढ़िये समयसार, हमें भी सुनाइये; हम भी सुनेंगे, समझेंगे भी; पर आप यह मुँहपट्टी मत उतारिये। शेष वस्त्र तो आपने अब भी वैसे ही रखे हैं, बस बात एक छोटी-सी मुँहपट्टी की ही तो है।''

विनम्र भाषा एवं गद्गद स्वर से करुणासागर स्वामीजी विगलित हो उठे और कहने लगे - ''भाई ! बात छोटी नहीं, बहुत बड़ी है। यह गृहीत मिथ्यात्व का प्रतीक है। यदि सत्य समझना है, इस भव में भव का अभाव करना है तो तुम्हें भी इसका आग्रह छोड़ना होगा। बात मात्र मुँहपट्टी की नहीं, उसके पीछे छिपी मिथ्या मान्यता की है।''

प्रसन्न होता हुआ पाँचवाँ बोला - ''ठीक है महाराज ! ठीक है; यही निवेदन तो हम कर रहे हैं कि आप मान्यता छोड़ दीजिये, पट्टी बनी रहने दीजिये। यही एक रास्ता है, जिसमें लाठी भी न टूटेगी और साँप भी मर जावेगा।''

अत्यन्त दृढ़ शब्दों में स्वामीजी ने कहा -

''ऐसा कोई रास्ता है ही नहीं, **मान्यता छूट जाने पर अपरिमित काल तक मुँहपट्टी का बने रहना संभव ही नहीं है। वस्तुस्वरूप ही ऐसा है। इसमें कोई क्या कर सकता है? मुझसे अब यह छल नहीं हो सकेगा। जिसे मैं अन्तर से ठीक नहीं मानता, सच नहीं जानता; उसका भार अब मुझसे नहीं ढोया जा सकता। मुझसे ही क्या, किसी भी ज्ञानी से यह सब कुछ सम्भव नहीं है।**''

उनके दृढ़ निश्चय को जानकर छठवाँ बोला -

''चाहे जो हो, हमको तो अपना सम्प्रदाय सँभालना ही होगा।''

उपेक्षा भाव से स्वामीजी कहने लगे - ''हाँ, हाँ; जाइये। आप अपना सम्प्रदाय सँभालिये और हमें अपना आत्मा सँभालने दीजिये।''

उनके अटल निश्चय एवं निर्भय उपेक्षा से उद्विग्न सभी एक साथ बोले -

''क्या आपका यह निश्चय अडिग है ?''

स्वामीजी के मुँह से सहज ही स्फुटित हुआ -

अडिग, अडिग; अडिग ···।''

युगपुरुष उसे कहते हैं जो युग को एक दिशा दे, भ्रमित युग को सन्मार्ग दिखाये; मात्र दिखाये ही नहीं, एक वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न करके जगत को उस पर विचार करने के लिए बाध्य कर दे। यदि वह क्रान्ति आध्यात्मिक हो और अहिंसक उपायों द्वारा सम्पन्न की गई हो तो उसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

कानजीस्वामी एक ऐसे युगपुरुष हैं, जिन्होंने अपने जीवन में तो परिवर्तन किया ही; साथ ही जैन जगत में भी आध्यात्मिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी और बाह्य क्रियाकाण्ड में उलझे हुए समाज को भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित शाश्वत शान्ति की प्राप्ति का सन्मार्ग दिखाया।

उन्होंने सोते हुए समाज को मात्र जगाया ही नहीं; वरन् उसे मानव-जीवन की सफलता एवं सार्थकता पर विचार करने के लिए झकझोर कर सचेत कर दिया एवं अपनी पूर्वाग्रहग्रस्त मान्यताओं पर एक बार पुनर्विचार करने के लिए बाध्य कर दिया है। **- युगपुरुष, श्री कानजी स्वामी : पृष्ठ ९७**

जरा-सा अविवेक

(१)

सेठ धनपतराय एवं पण्डित सुमतिचन्द की मित्रता लोगों की ईर्ष्या का विषय थी। न सेठ धनपतराय को पण्डित सुमतिचन्द के बिना चैन पड़ती और न पण्डित सुमतिचन्द को ही सेठ धनपतराय के बिना अच्छा लगता। अब तो खैर दोनों रिटायर्ड ही हो गये समझिये; परन्तु जब उनके काम करने के दिन थे, तब भी वे दोनों महीने में पन्द्रह दिन एक साथ भोजन करते थे। सेठजी के यहाँ पण्डितजी ने भोजन किया या पण्डितजी के यहाँ सेठजी ने - इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता था; पर दोनों का एक साथ भोजन होना आवश्यक अवश्य था और यह सब सहज ही होता था, इसमें आमंत्रण-निमंत्रण देने-लेने का कोई चक्कर नहीं था। हाँ, सेठानी और पण्डितानी को इस बात की शिकायत जीवन भर बनी रही कि घर भोजन नहीं करना था तो कम से कम खबर तो कर देते, हम भूखे तो न बैठे रहते। पर उनकी भी मजबूरी थी; पहले से कुछ निश्चित हो, तभी तो कुछ सूचना दी जावे।

यदि सेठजी अपने घर न हों तो समझिये कि निश्चितरूप से पण्डितजी के घर होंगे। इसमें किसी से कुछ पूछने की आवश्यकता नहीं है, यह बात पक्की ही समझिये। यही बात पण्डितजी के बारे में भी सोलह आने सत्य थी कि यदि वे अपने घर न मिलें तो सेठजी के ही घर मिलेंगे। उनको खोजने के लिए अन्यत्र भटकने की आवश्यकता आज तक तो किसी को पड़ी नहीं थी।

उन दोनों की मित्रता उनके परिवारों के लिए चाहे जैसी रही हो, पर समाज के लिए तो वरदान थी। पण्डितजी एवं सेठजी की प्रतिष्ठा मिलकर समाज का

बहुमत अपने में समेट लेने के लिए पर्याप्त थी। समाज के हित के लिए जो भी निर्णय यह जुगल-जोड़ी कर लेती, उसे कार्यान्वित होने में देर नहीं लगती। किसी भी सत्कार्य करने के लिए निर्णय पर पहुँचने में इन्हें कभी कोई कठिनाई नहीं हुई थी। बहस के लिए बहस उनमें कभी होती ही न थी, बस सेठजी ने कहा और पण्डितजी ने माना अथवा पण्डितजी ने कहा और सेठजी ने माना।

(२)

अभी तक सब कुछ ठीक ही चल रहा था; पर जब एक दिन पण्डितजी अपने निश्चित समय पर सेठजी के घर पहुँचे और किवाड़ खटखटाये तो कुछ देर तक किवाड़ खोलने कोई नहीं आया। भीतर कोई न हो - यह बात नहीं थी; क्योंकि भीतर से जोर-जोर से बातचीत करने की आवाजें निरन्तर आ रहीं थीं, जैसे कोई झगड़ा हो रहा है। हो सकता है कि इसी कारण किसी का ध्यान किवाड़ों की आहट की ओर न जा सका हो।

पण्डितजी कुछ देर खड़े रहे, फिर उनका ध्यान अन्दर से आनेवाली आवाजों ने खींचा तो वे क्या सुनते हैं कि सेठ धनपतराय स्वयं जोर-जोर से घरवालों को डाँट रहे हैं। वे कह रहे हैं कि यदि किसी ने दुबारा इसप्रकार की बात की तो मुझसे बुरा कोई न होगा। तुम नहीं जानते कि मेरे और पण्डितजी के क्या सम्बन्ध हैं? मैं और वे - दो शरीर और एक आत्मा हैं।

पण्डितजी ने जब अपना नाम सुना तो उनकी उत्सुकता बढ़ी। वे सोचने लगे कि चर्चा तो मेरे सम्बन्ध में ही हो रही है। आज सेठजी को उनके घरवालों से मेरे और उनके सम्बन्धों की गहराई बताने की क्या आवश्यकता आ पड़ी ? क्या घरवाले मेरे और उनके सम्बन्धों के बारे में जानते नहीं हैं? कुछ न कुछ विशेष बात अवश्य है। यह सोचकर उन्होंने किवाड़ों को खटखटाना बन्द कर उधर की ओर विशेष उपयोग लगाया। कान लगाकर वे औरतों की फुसफुसाहट को सुनने का यत्न करने लगे।

पूरी बात तो कुछ पल्ले न पड़ी; पर यह अनुमान अवश्य लगा कि कुछ खो गया है, जिसके सन्दर्भ में उनका नाम आने से सेठजी एकदम आग-बबूला हो उठे हैं - ऐसी स्थिति में उन्हें लौट जाना ही उपयुक्त लगा।

घरवालों ने किवाड़ों की खटखटाहट सुनी ही न हो, सो बात नहीं थी। सुनी तो थी, पर वातावरण की उत्तेजना में उधर किसी ने ध्यान नहीं दिया था। सेठजी भी यह चाहते थे कि थोड़ा वातावरण सहज हो जावे तो किवाड़ खोलें; क्योंकि उन्हें सम्भावना यही थी कि पण्डितजी ही पधारे होंगे। जब वे थोड़े सहज हुए तो आकर उन्होंने ही किवाड़ खोले, पर वहाँ कोई न था; अत: वे पण्डितजी के घर की ओर चल दिये।

(३)

पण्डितजी वहाँ से लौट तो दिये थे, पर घर नहीं गये थे। उद्विग्न से थोड़ी बहुत देर यहाँ-वहाँ भटकते रहे; पर जब सहज हुए तो उन्होंने सोचा कि अभी सेठजी के यहाँ हो आना चाहिये; क्योंकि प्रतिदिन मैं उनके यहाँ इस समय जाता ही था, आज न जाने से जो सन्देह का बीज पड़ गया है, उसे अंकुरित होते देर नहीं लगेगी; अत: वे सेठजी के घर पहुँचे, पर वहाँ सेठजी तो थे नहीं। पूछने पर पता चला कि अभी-अभी बाहर गये हैं; हो सकता है आपके यहाँ ही गये हों।

उनके मन के समान घर का वातावरण भी उन्हें उखड़ा-उखड़ा ही लगा; पर वे सेठजी की प्रतीक्षा करते हुए वहीं बैठ गये। सेठानीजी उनके पास आकर बैठी हीं थी कि उनकी आँखें सूजी हुई-सी देखकर पण्डितजी ने पूछा -

"क्यों, क्या बात है; क्या तबियत ठीक नहीं है?"

"तबियत तो ठीक ही है, पर....."

"पर क्या?"

"न मालूम इनको क्या हो गया है कि जरा-जरा-सी बात पर आपे से बाहर हो जाते हैं?"

"क्या आज कुछ बातचीत हो गई है?"

"बातचीत; बातचीत ही होती तो क्या बात थी? मेरे मुँह से जरा निकल गया कि बस आपे से बाहर हो गये। जो मन में आया सो कहा। हमने भी बहुत सहा है, पर अब सहा नहीं जाता....."

कहते-कहते वे रो पड़ीं, तो सांत्वना देते हुए पण्डितजी ने कहा - ''बात क्या थी?''

''कुछ नहीं, बस इतनी-सी बात थी कि कल बड़े भैया का छोटा बाबू यहाँ खेल रहा था। उसके एक हाथ में से सोने का कड़ा न मालूम कहाँ गायब हो गया। हम उसी को खोज रहे थे। भैया ने पूछा कि कौन-कौन आया था घर पर, तो मेरे कलमुँहे मुख से निकल गया कि पण्डितजी के अलावा और कोई तो आया नहीं। फिर क्या था, उनका पारा आसमान पर चढ़ गया। न मालूम क्या-क्या बकने लगे ? मैं तो चुप रह गई, नहीं तो न मालूम आज क्या हो जाता ?

मैंने आप पर चोरी का इल्जाम थोड़े ही लगाया था। मैं क्या जानती नहीं हूँ कि आपका नाम लूँगी तो ये मेरी खाल खींचकर भुस भर देंगे। पर जब भैया ने पूछा तो मेरे मुँह से सहज ही निकल गया। मैं न भी कहती तो क्या यह बात पता न चलती? दुनिया तो कहती ही कहती। मेरा मुँह बन्द कर दें, पर दुनिया का मुँह कैसे बन्द करेंगे?''

(४)

न मालूम बहुत देर तक सेठानी क्या कहती रही? मूल बात कान में पड़ते ही पंडितजी का माथा भन्नाने लगा; अत: आगे वे कुछ भी न सुन सके। दरवाजे पर किवाड़ खटखटाते समय जो कुछ उन्होंने सुना था, उसका सभी कुछ सन्दर्भ स्पष्ट हो गया।

सेठानी की जबान रुकी और पंडितजी को जब होश आया तो उन्होंने सहज होते हुए कहा - ''कड़ा एक ही खोया है या दोनों ?''

''बस एक, दूसरा तो.....''

कहते हुए सेठानी कड़ा लेने चली गई। लाकर पंडितजी को बताते हुए कहने लगी - ''गत वर्ष ही तो बनवाये हैं चार तोले के दो कड़े। अपने बगलवाले सोनी भैया ही ने तो बनाये हैं। ऐसी डिजाइन तो सिर्फ यही सुनार बना सकता है, औरों से तो हम कभी बनवाते ही नहीं।''

उनकी जबान बराबर चल रही थी। पण्डितजी ने वह कड़ा ध्यान से हाथ में लेकर देखा और यह कहते हुए चल दिये -

"लगता है सेठजी मेरे ही घर गये होंगे।"

(५)

सेठजी जब पण्डितजी के घर पहुँचे तो पता चला कि वे तो आपके घर ही गये हैं। इस जानकारी से सेठजी को यह समझते देर नहीं लगी कि प्रातः किवाड़ खटखटाने वाले पण्डितजी ही थे और कोई नहीं। अतः वे बहुत देर तक पण्डितजी को यहाँ-वहाँ खोजते रहे, पर जब वे कहीं न मिले तो थके-हारे से घर पहुँचे, जैसे कोई श्मशान से अपने सगे-सम्बन्धी का क्रियाकर्म करके लौटा हो।

(६)

आज का दिन दोनों ही मित्रों के लिए जीवन का सबसे अधिक मनहूस दिन साबित हुआ। दो-तीन दिन ऐसे ही निकल गये, वे दोनों एक-दूसरे से मिले ही नहीं। दोनों घरों के वातावरण पर भी उनकी उदासी की मनहूस छाया छाई रही। चौथे दिन पण्ड़तजी सेठजी के घर पहुँचे और कड़ा देते हुए सेठजी से बोले -

"यह कड़ा मेरी कोट की जेब में निकला है। लगता है बच्चा जब मेरे पास खेल रहा था, तब उसने मेरी जेब में हाथ डाला होगा और उसमें ही रह गया होगा। यह कड़ा आप सेठानीजी को दे दीजिए, जिससे उन्हें संतोष हो जाये और गृह-कलह समाप्त हो।"

(७)

सेठजी कड़ा देख व उनकी बात सुन हक्के-बक्के रह गये। उन्होंने कल्पना ही न की थी ऐसा भी हो सकता है। उनका दिल इस बात पर विश्वास करने को कतई तैयार न था। उनका माथा चकराने लगा। वे सोच रहे थे कि क्या यह सब सत्य है या मैं सपना देख रहा हूँ? वे मन ही मन भगवान से प्रार्थना कर रहे थे कि यह सब सपना ही साबित हो, सत्य नहीं। उन्हें कड़ा मिलने की रंचमात्र भी खुशी नहीं थी; अपितु एक ऐसा मित्र खो देने की असह्य वेदना हो रही थी, जिसके सामने चक्रवर्ती का वैभव भी तुच्छ था। यह आघात उनके लिए इतना बड़ा था कि जिसे वे बरदाश्त नहीं कर सकते थे। अच्छा ही हुआ कि वे एकदम बेहोश होकर गिर पड़े।

पण्डितजी भी इस स्थिति का सामना करने में अपने को असमर्थ पा रहे थे, पर सेठजी की बेहोशी ने उनका रास्ता साफ कर दिया और वे वहाँ से उठकर तत्काल नीची गर्दन किए हुए भारी हृदय से अपने घर की ओर चल दिये। उन्हें आशंका थी कि सेठजी के होश में आने पर कुछ अघटित भी घट सकता है।

यद्यपि इस स्थिति में सेठजी को छोड़ने की वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे; पर जागृत विवेक ने उन्हें इसके लिए मजबूर कर दिया था।

(८)

दोनों का जीवन अब भी चल रहा था, पर उनके जीवन में अब कोई रस नहीं रह गया था। दोनों अपनी जिन्दा लाशों को निरन्तर ढोये चले जा रहे थे। जिन्दादिली और उत्साह न मालूम कहाँ चले गये थे? कल तक वे अपने को

बूढ़ा मानने को तैयार ही न थे, पर न मालूम एक दिन में ही वे कितने बूढ़े हो गये थे। अब जिन्दगी उन्हें भारभूत लगने लगी थी। भगवान से जल्दी उठा लेने की प्रार्थनाएँ उनके दैनिक जीवन का अंग बन चुकी थीं।

घर-द्वार, देश-काल सब-कछ वे ही थे और वैसे ही चल रहे थे; पर सामाजिक गतिविधियों पर तो मानो वज्रपात ही पड़ गया था। सब-कुछ वहीं का वहीं थम कर रह गया था। अब न मंदिरों में वह सफाई देखने में आती थी जो उनके जमाने में देखी जाती थी; और न पाठशाला की, औषधालय की सँभाल करनेवाला कोई था। धार्मिक पर्व जैसे आते, वैसे ही चले जाते; समाज में कोई उल्लास का वातावरण देखने को नहीं मिलता; उनके द्वारा जो स्फूर्ति, जो प्रेरणा अभी तक प्राप्त होती रही थी; न मालूम अब वह क्यों नहीं प्राप्त हो पा रही थी?

सेठजी की मानसिक स्थिति को देखकर घरवाले यद्यपि उनसे कुछ नहीं कहते; तथापि आपस में कानाफूसी अवश्य करते, जो कभी-कभी सेठजी के कानों में भी पड़ जाती थी।

कोई कहता - "बड़े पण्डित बनते थे, पर मन पर काबू नहीं था।"

व्यंग करता हुआ दूसरा कहता - "नहीं, भाई! बात ऐसी नहीं है। वे कोई जानबूझ कर थोड़े ही ले गये थे कड़ा, वह तो उनकी जेब में बच्चे ने स्वयं डाल दिया था, बेचारों को जब पता चला तब तत्काल दे गये, नहीं तो....."

कहते-कहते जब जोरदार ठहाका लगता और सब घरवाले उसका साथ देते तो सेठजी के नीचे से जमीन खिसकने को फिरती।

फिर कोई कहता - "देखो, कैसी बात बनाई; इन्हें बात बनाने की भी तो अक्ल नहीं है और बनते हैं पण्डितराज। यह नहीं सोचा कि इस बात पर भी कोई विश्वास करेगा क्या ?"

दूसरा कहता - "क्या करते ? जब पचता नहीं दिखा, तो वापिस तो करना ही था, अन्यथा जेल की हवा न खानी पड़ती?"

तीसरा कहता - "हवा तो दे देने पर भी खिला सकते थे हम; पर पिताजी का डर लगता है, अन्यथा सारी पण्डिताई निकाल देते।"

तुनककर चौथा कहता - ''पिताजी ने तो उन्हें माथे पर चढ़ा रखा था। भगवान मानते थे भगवान! कुछ कहो तो उन्हीं के सामने हमें ऐसे झिड़क देते थे, जैसे हम कुछ समझते ही नहीं हैं। हम तो चुप रह जाते थे, नहीं तो ''

उसकी बात पूरी न हो पाती और दूसरा बोल पड़ता -

''उन्होंने इन पर कोई जादू कर रखा था जादू, अन्यथा उनके पीछे पागल से क्यों डोलते रहते? अब चुप्पी साध ली है।''

(९)

ये बातें धीरे-धीरे सारे गाँव में फैल गईं थीं; अत: जहाँ देखो, वहीं इसप्रकार की कानाफूसी चल निकली थी। इसकारण सेठजी और पण्डितजी का जीना और भी दूभर हो गया था।

ये सारी बातें सुन-सुनकर सेठजी का खून खौलता था; पर उन्हें कोई रास्ता दिखाई नहीं देता। यदि उन्हें भी पण्डितजी पर क्रोध आ जाता तो इस मंडली के साथ उनकी भी पटरी बैठ जाती; पर क्या करें, उनका दिल मानता ही न था। उन्होंने पक्का दिल करके एक बार पण्डितजी से एकान्त में मिलने का निश्चय किया।

पण्डितजी की हालत तो सेठजी से भी बदतर थी; क्योंकि चोरी तो उनकी ही पकड़ी गई थी; पर उनके पास जिन्दा रहने के लिए पाण्डित्य का सहारा था; अत: उन्होंने अपना संसार साहित्य को बना लिया, शास्त्रों को बना लिया। यद्यपि उन्हें बहुत बड़ी ठेस लगी थी, तथापि इस घटना से उन्हें एक लाभ भी हो गया था। अब उनका समय बाहरी कामों में, व्यर्थ के व्यवहारों के निभाने में बरबाद नहीं होता था; अध्ययन-मनन के लिए मानों उन्हें यह शुभ अवसर प्राप्त हो गया था, अन्यथा उनके स्वभाव के अनुसार उन्हें जीवन भर फुरसत न मिलती।

उनके घरवाले उनसे इस सम्बन्ध में पूछ-पूछकर थक चुके थे; पर वे एक ही बात कहते, जो उन्होंने सेठजी से कही थी। इस बात पर लोगों को विश्वास

नहीं होता था और न यह ही विश्वास होता था कि उन्होंने चोरी की होगी। मर्ज को ला-इलाज मानकर वे भी इस ओर से उदास हो गये थे।

(१०)

जब सेठजी एक दिन अचानक उनके यहाँ पहुँचे, तो वे दोनों एक-दूसरे को ढंग से पहिचान ही न सके; क्योंकि वे दोनों ही कुछ ही महीनों में लगभग आधे रह गये थे। एक-दूसरे को नहीं पहिचानने का दोनों को कोई आश्चर्य नहीं हुआ, होना भी नहीं चाहिए था; क्योंकि जब वे वर्षों एक साथ रहे, फिर भी एक-दूसरे को सही रूप में न जान सके; जान गये होते तो आज सत्य जानने के लिए सेठजी को उनके पास क्यों आना पड़ता? जब उन्हें उनके घरवाले ही न पहिचान पाये तो और लोग कैसे पहिचानते? जानना आसान है, पर पहिचानना नहीं; क्योंकि पहिचानने में जो गहराई है, वह जानने में कहाँ ?

जो भी हो, सेठजी ने बहुत घुमा-फिरा कर कई बार पूछा, पर पण्डितजी से उससे अधिक कुछ न उगलवा सके, जितना उन्होंने उनके घर जाकर कड़ा देते समय बताया था। पण्डितजी मानों पत्थर हो गये थे। **उन्होंने विचित्रताओं के बारे में शास्त्रों में तो बहुत पढ़ा था, पर जीवन में साक्षात् दर्शन अभी हो रहे थे।**

(११)

यह घटना शीतकाल के आरम्भ में ही घटी थी। पर माघ की कड़कती सर्दी वातावरण को उतना ठंडा नहीं बना सकी थी, जितना ठंडा सामाजिक वातावरण को इस घटना ने कर दिया था। अब न कोई पंच था न पंचायत। उनके बिना मानो पंचायत भंग-सी ही हो गई थी। न अब कोई अनाथों की सुननेवाला रहा था और न दुखियारी विधवाओं की समस्याओं का समाधान करनेवाला ही। सामाजिक कार्यक्रमों की फसल पर मानों तुषार ही पड़ गया था।

समय यों ही बीत रहा था। सर्दियों के बाद ग्रीष्म ऋतु भी आई। जिस वृक्ष की जड़े कट गई हों, वह तो शीतकाल में ही सूखने लगता है; फिर गर्मियों में तो कहना ही क्या? बरसात ही एक ऐसी ऋतु है, जो उसे सहारा दे सकती है।

जैसे-तैसे गर्मी भी समाप्त हुई और सम्पूर्ण जगत के तन-मन को ठंडक पहुँचाने वाली पावस भी आ पहुँची। प्यासी धरती की प्यास बुझी, तो उसका तन रोमांचित हो उठा; जगह-जगह दूर्वांकुर फूट पड़े। घर-घर की नालियाँ साफ की जाने लगीं। आठ माह से बन्द पड़ी नालियों में इतना कूड़ा-करकट भर गया था कि पानी निकलने को अवकाश ही न रहा था; अत: उनकी सफाई आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हो गई थी; अन्यथा घरों में पानी भर जाने की आशंका थी।

सेठ धनपतराय के घर की नालियाँ भी साफ की जाने लगीं। धीमी-धीमी बरसात हो रही थी, बच्चे उसमें नहाने का आनन्द उठा रहे थे। वातावरण इतना सुहावना था कि बूढ़े भी बच्चे हो रहे थे। वे भी 'नालियाँ ठीक-से साफ हो रही हैं या नौकर-चाकर बेगार टाल रहे हैं' - यह देखने के बहाने बूँदा-बाँदी का आनन्द लेने बाहर निकल आये थे; पर सेठ धनपतराय के अवसाद को यह रम्य वातावरण भी दूर न कर पाया था। वे अपने कमरे में कुछ बुदबुदा रहे थे। कह नहीं सकते कि वे किसी स्तोत्र का पाठ कर रहे थे या मन ही मन किसी से जल-भुनकर बड़बड़ा रहे थे।

जो कुछ भी हो, पर जब बाहर से एकदम 'कड़ा-कड़ा' की आवाजें आई तो न मालूम वे कब एकदम बाहर आ गये? वैसे तो वे कई बार रात में स्वप्न में 'कड़ा-कड़ा' कहकर बड़बड़ाने लगते थे। 'कड़ा' शब्द उनका महामन्त्र बन गया था; अत: 'कड़ा-कड़ा' सुनकर उनका चौंक पड़ना एवं बाहर आ जाना कोई बड़ी बात नहीं थी; पर आज तो बाहर आकर जो कुछ उन्होंने देखा, वह अद्‌भुत था, अपूर्व था, उनके लिए तो मानों वरदान ही था।

वे क्या देखते हैं कि वही कड़ा जो खोया था; तथा जिसके बदले में यह कहकर कि वह मेरी जेब में चला गया था, पण्डितजी दूसरा कड़ा दे गये थे; हाथ में लिए नौकर चिल्ला रहा है -

"कड़ा मिल गया, कड़ा मिल गया।"

और सब लोग आश्चर्यचकित आँखें फाड़-फाड़कर उसे देख रहे थे।

अब तीन कड़े हो गये थे। सबकी समझ में सब-कुछ आ गया था। सभी चुप थे; किसी के पास कहने के लिए कुछ था ही नहीं, जो बोलते। सभी ओर सन्नाटा था, सेठजी भी माथे पर हाथ रखे नीची गर्दन किए बैठे थे।

आकाश निर्मल था और बूँदा-बाँदी थम गई थी। आकाशी बादलों के समान संशय के बादल भी छट चुके थे और गाँव का आकाश भी निर्मल हो गया था, पर लोगों की आँखों से होनेवाली अविरल अश्रुधाराएँ थम ही न रहीं थीं। बातों ही बातों में सारे गाँव में खबर फैल गई थी और झुण्ड के झुण्ड लोग आ रहे थे एवं वहाँ इकट्ठे होते जा रहे थे।

(१२)

जब सेठ धनपतराय को कुछ ध्यान आया तो वे तीनों कड़े लेकर धीरे-धीरे पण्डितजी के घर की ओर चल दिये। उनके पीछे-पीछे उनके परिजन एवं पुरजन भी थे। एक शान्त मौन जुलूस-सा ही बन गया था।

वे सभी पण्डितजी के घर पहुँचे और उनके सामने तीनों कड़े रख दिये, तो उनकी समझ में सब-कुछ आ गया। वे बड़ी देर तक एक-दूसरे को देखते रहे, कोई कुछ बोला नहीं। मुँह से तो कोई भी कुछ नहीं बोल रहा था; पर स्निग्ध शान्त मौन वह सब-कुछ कह रहा था, जो वाणी के द्वारा कभी नहीं कहा जा सकता। पण्डितजी तेजी से उठे, अन्दर गये, क्षणभर में ही वापिस आये और चौथा कड़ा लाकर उन तीनों में मिलाकर रख दिया।

पण्डितजी की अमृतवाणी से उपदेश तो लोगों ने जीवन भर सुने थे, पर उनका कितना प्रभाव उन पर पड़ा था - यह तो वे ही जानते थे; किन्तु इस घटना ने सबको अन्दर से हिला दिया था। नीरव मौन को भंग करते हुए अश्रुपूरित नेत्रों से जब सेठजी ने कहा -

"यह आपने क्या किया?"

तो एकदम शान्त गम्भीर स्वर में पण्डितजी कहने लगे -

"जो मुझे उचित प्रतीत हुआ। इस विषम स्थिति से उबरने का मुझे एक यही निरापद मार्ग सूझा था। यद्यपि मैं जानता हूँ कि इससे आपको भी कम

तकलीफ नहीं हुई, मुझे भी दु:ख तो हुआ ही, पर यह सब मनोगत ही रहा। इसके बिना तो ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती थीं कि जिनमें हम सबका जीवन भी दूभर हो जाता। अस्तु..... जो भी हो।''

वे अपनी बात पूरी भी न कर पाये थे कि मानसिक संताप से अत्यन्त संतप्त सेठानी बिलखते हुए कहने लगी -

''हे भगवान! **मेरे जरा-से अविवेक ने क्या अनर्थ कर डाला? मैंने एक ज्ञानी की विराधना कर अनन्त ज्ञानियों की विराधना का महापाप तो किया ही; साथ में अपने पति की आन्तरिक शान्ति को भंगकर उनका जीना भी दूभर कर दिया।**''

इसी तरह की बातें कुछ दिन यहाँ-वहाँ होतीं रहीं और फिर सब-कुछ सहज हो गया; पर पण्डितजी की उदासीनता उल्लास में परिवर्तित न हो सकी; सेठजी को उनके सहज समागम का पूर्ववत् लाभ फिर कभी संभव न हुआ। **शरीर का घाव तो समय पाकर भर जाता है, पर मन के घाव का भरना सहज नहीं होता।**

इस दुनिया में आज न सेठजी हैं, न पण्डितजी; पर यह कहानी गाँव के बच्चे-बच्चे की जबान पर है और तबतक रहेगी, जबतक दादियाँ अपने पोते-पोतियों को कहानियाँ सुनाती रहेंगी।

जोश और होश

यह एक सर्वमान्य सत्य है कि युवकों में जोश और प्रौढ़ों में होश की प्रधानता होती है। युवकों में जितना जोश होता है, कुछ कर गुजरने की तमन्ना होती है; उतना अनुभव नहीं होता। इसीप्रकार प्रौढ़ों में जितना अनुभव होता है, उतना जोश नहीं होता।

कोई भी कार्य सही और सफलता के साथ सम्पन्न करने के लिए जोश और होश - दोनों की ही आवश्यकता होती है। अत: देश व समाज को दोनों की ही आवश्यकता है। ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं।

'जोश और होश' नामक निबन्ध से

गाँठ खोल देखी नहीं

(१)

"देखो, मैं तुम्हें दो लाल सौंपे जा रहा हूँ। इन्हें सँभाल के रखना।"

- यह कहते हुए जयपुर के प्रसिद्ध जौहरी सेठ जवाहरलाल ने अपनी पत्नी की हथेली पर जब एक लाल रखा, तब वह आश्चर्यचकित होती हुई बोली -

"दो; दो कहाँ हैं ? यह तो एक ही है। आपकी तबियत तो ठीक है न?"

"तबियत, तुम तबियत की बात करती हो! तबियत तो अब क्या ठीक होगी? अब तो भगवान जितना जल्दी उठा ले, उतना ही अच्छा है।"

"आप कैसी बातें करते हैं? सब-कुछ ठीक हो जायेगा। आप जल्दी ही अच्छे हो जाओगे। डॉक्टर साहब कह रहे थे····।"

"छोड़ों तुम इन डाक्टरों की बातों को। वे तो तबतक यही कहते रहेंगे, जबतक मरघट पर ही न पहुँच जावें।"

"लगता है आप बहुत निराश हो गये हैं। व्यर्थ की चिन्ता में अपनी यह हालत कर ली आपने।"

"मुझे अपनी नहीं; तुम्हारी चिन्ता है, अपने इस लाल की चिन्ता है।"

"क्या चिन्ता करना इन लालों की? ये तो आपने हजारों कमाये हैं और हजारों ही गवाये हैं। ये तो हाथ के मैल हैं। जब तबियत ठीक हो जावेगी, फिर हजारों कमा लोगे। आप जैसी निगाहवाला, आप जैसा पारखी - अनुभवी है कोई जयपुर में ?"

"जाने भी दो इन बातों को, क्या रखा है इन बातों में? **बुद्धिमता और अनुभव का कमाई से कोई सम्बन्ध नहीं है। कमाना और गमाना तो पुण्य-पाप के खेल हैं।** यदि ऐसा नहीं होता तो तुम्हीं बताओ जब मैं अपने गाँव से जयपुर आया था, तब लोटा-डोर लेकर आया था। क्या था मेरे पास उस समय? न घर, न द्वार, न पूँजी, न अनुभव। बुद्धि का विकास भी तो इतना नहीं था, जितना अब है; पर उस समय जहाँ हाथ डाला, सफलता ही मिली। उस समय मिट्टी को यदि छू देता तो वह सोना बन जाती, पर आज सोने को छूता हूँ तो मिट्टी बन जाता है। कहाँ गई चतुराई और अनुभव ? अनुभवहीन अनाड़ी ने जो कुछ कमाया था, चतुर अनुभवी ने वह सब-कुछ देखते ही देखते गँवा दिया है। अब मेरे पास मात्र ये दो लाल बचे हैं, जिन्हें सौंपकर शान्ति से मरना चाहता हूँ।"

घबराती हुई सेठानी बोली - "क्या आपकी दृष्टि सचमुच विकृत हो गई है। एक को बराबर दो बताये जा रहे हो।"

सेठानी बहुत ही घबरा गई थी; क्योंकि उसने सुन रखा था कि मृत्यु समीप आने पर दृष्टि विकृत हो जाती है, एक के दो और दो के चार दिखने लगते हैं।

सेठजी की न तो दृष्टि ही विकृत हुई थी और न बुद्धि ही; पर वे अन्तिम साँसें अवश्य गिन रहे थे, उनकी अन्तिम घड़ी अवश्य आ गयी थी।

उन्होंने बुढ़ापे में उत्पन्न अपनी इकलौती सन्तान 'चेतनलाल' को बुलाया और उसके माथे पर हाथ रखते हुए बोले -

"सुनो ! जब यह चेतनलाल बड़ा हो जावे, तब इसे यह अचेतन लाल सँभला देना। इसे व्यापार में पूँजी की कमी न पड़े - इस विचार से ही मैंने अपनी बची-खुची सम्पूर्ण सम्पत्ति बेचकर यह लाल खरीदा है। ध्यान रहे यह बहुत कीमती है। मैं समझता हूँ कि इससे प्राप्त पूँजी से यह अपना व्यापार बहुत अच्छी तरह चला लेगा। ध्यान रखना ....।"

- कहते-कहते सेठजी सचमुच ही महाप्रयाण कर गये। उनकी वाणी अवरुद्ध हो गयी, गर्दन ढुलक गई, आँखें खुली की खुली रह गईं।

(२)

सुख-दुःख सहने की जितनी सामर्थ्य नारियों में होती है, उतनी पुरुषों में कहा? जिस आर्थिक उतार-चढ़ाव को सेठ जवाहरलाल नहीं झेल सके और महाप्रयाण कर गये, सेठानी उसके साथ पति के वियोग को भी झेल गईं। पुत्र के संरक्षण का जो महान उत्तरदायित्व सेठजी मरते-मरते उन्हें सौंप गये थे, उसे निभाने में वे तन-मन से जुट गईं। धन तो उनके पास था ही कहाँ? सेठजी ने जो कुछ कमाया था, वे उसे गँवाकर ही गये थे। जो कुछ बचा था, उससे लाल खरीद कर पुत्र को सौंपने का आदेश भी दे गये थे।

पुत्र की सुरक्षा के साथ-साथ उसकी सुरक्षा का भार भी सेठानी के माथे था।

जो कुछ भी स्थिति थी, सेठानी ने उसे भवितव्य जानकर सहज ही स्वीकार कर ली थी। **बिना डींग हाँके दुर्भाग्य से लड़ने की जितनी क्षमता नारियों में सहज देखी जा सकती है; पुरुषों में उसके दर्शन असम्भव नहीं, तो दुर्लभ तो है हीं।**

नौकरों-चाकरों से घिरी रहने और जमीन पर भी पैर न रखने वाली सेठानी सिलाई-कढ़ाई करती, बड़ी-पापड़ बेलती; पर किसी के सामने हाथ न फैलाती। पुत्र के लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा में उसने कोई कमी न रखी। स्वयं रूखा-सूखा खाती, पर पुत्र को कभी कोई कमी महसूस न होने देती।

(३)

समय बीतते क्या देर लगती है? पुत्र जब कुछ समझदार हुआ तो एक दिन अपनी माँ से बोला -

"माँ ! अब मैं पढ़ना नहीं चाहता, कहीं नौकरी करूँगा।"

मुँह पर उँगली रखते हुए माँ बोलीं - "बेटा, ऐसा नहीं बोलते। जौहरी का बेटा नौकरी नहीं करता। तुम अभी पूरे पढ़ भी कहाँ पाये हो? अभी तो तुमने दसवीं कक्षा ही पास की है। तुम अपनी पढ़ाई पूरी कर लो, फिर...।"

"नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। जब जौहरी की पत्नी मेहनत मजदूरी कर सकती है तो फिर जौहरी का बेटा नौकरी क्यों नहीं कर सकता? नौकरी नहीं करूँगा तो क्या करूँगा? मुझसे आपकी यह हालत देखी नहीं जाती।"

"बेटा! नौकरी नहीं, तुम व्यापार करना।"

"व्यापार ! माँ, व्यापार बिना पूँजी के नहीं होता।"

"बेटा! पूँजी की क्या कमी है अपने यहाँ ?"

- कहकर माँ भीतर चली गई। माँ की बात सुनकर वह अचम्भे में पड़ गया। उसकी समझ में कुछ नहीं आया कि माँ क्या कह रही है?

हाथ में एक गन्दी-सी पोटली लिए कुछ देर बाद वह बाहर आई और उसके सामने ही बिना कुछ कहे उसे पोटली को खोलने लगी। प्याज के छिलकों की भाँति कई पर्त उतरने के बाद उसमें से एक चमकदार लाल निकला। उसे पुत्र को थमाते हुए बोली -

"बेटा ! यह बहुत ही बेशकीमती लाल है। तुम्हारे साथ तुम्हारे पिताजी मुझे यह भी सौंप गये थे। यह भी कह गये थे कि जब मेरा लाल समझदार हो जाये तो उसे यह सौंप देना। इससे प्राप्त पूँजी से वह अच्छी तरह व्यापार कर सकेगा।

मैं आज तुम्हें यह सौंपकर निश्चिन्त होती हूँ, उनके ऋण से उऋण होती हूँ। तुम इसे बेचकर अपनी पूँजी बनाओ और जमकर व्यापार करो, पिता जैसी ही कीर्ति कमाओ, फूलो-फलो!"

(४)

उसने सारे बाजार में उस लाल को दिखाया, पर उनकी आशा के अनुरूप कीमत उसकी कोई भी नहीं लगा रहा था; अत: माँ और बेटे ने मिलकर यह निर्णय लिया कि इसे यहाँ न बेचकर बम्बई में बेचा जाये तो ठीक रहेगा। वहीं इसकी समुचित कीमत प्राप्त हो सकेगी।

(५)

जब वह बम्बई के जवेरी बाजार में पहुँचा और एक-दो पैढ़ियों पर लाल दिखाया तो सभी ने लगभग वही कीमत लगाई जो जयपुर में मिल रही थी। जवेरी बाजार के रंग-ढंग से अपरिचित युवक चेतनलाल का अनाड़ीपन छिपा नहीं रह सका। कुछ दलाल तो उसके पीछे आरम्भ से ही लग गये थे। वह उनसे भी पीछा नहीं छुड़ा पा रहा था कि कुछ गलत तत्त्व भी पीछे लग गये।

अपने चारों ओर घिरे लोगों की सन्देहास्पद गतिविधियों से वह सतर्क होने के साथ-साथ चिंतित भी हो उठा। 'हीरालाल पन्नालाल' नामक प्राचीनतम पैढ़ी के मालिक सेठ श्री माणिकचंदजी जवेरी भी यह सब-कुछ देख रहे थे। उन्होंने तत्काल एक मुनीम को भेजकर उसे अपनी पैढ़ी पर बुलाया।

जब उसने उन्हें लाल दिखाने का प्रयत्न किया तो वे सहज स्नेह से बोले -

"बैठो, शान्ति से बैठो। 'लाल' भी देखेंगे। पहले जलपान करो। जवाहरात का व्यापार खड़े-खड़े नहीं होता।"

उन्होंने अपने स्नेहपूर्ण व्यवहार से सहज ही उसका मन जीत लिया।

पर उसे तो अपना लाल बेचकर घर जाने की जल्दी थी; अत: उसने जलपान करके फिर 'लाल' दिखाया। सेठजी ने लाल हाथ में लिया, उस पर एक निगाह डाली और उससे पूछने लगे -

"कहाँ से आये हो?"

"जयपुर से"

"किसके बेटे हो, तुम्हारी फर्म का क्या नाम है?"

"मैं जवेरी जवाहरलालजी का पुत्र हूँ।"

"जवाहरलालजी के? वे तो हमेशा हमारे ही यहाँ ठहरते हैं। वे तो हमारे अभिन्न मित्रों में से हैं। इन दिनों बहुत दिनों से नहीं आये। कुछ समाचार भी नहीं दिये। वे क्यों नहीं आये, अच्छी तरह तो हैं ?"

(६)

सेठ माणिकचन्दजी मानों अतीत में चले गये थे। उन्हें वे दिन याद आने लगे थे, जब सेठ जवाहरलालजी बम्बई आया करते थे तो बाजार में विशेष हलचल मच जाती थी। उनके रुख के आधार पर बाजार में तेजी-मंदी हुआ करती थी।

अब वे न हाथ में रखे लाल को देख रहे थे और न सामने बैठे चेतनलाल को ही। न मालूम कहाँ खो गये थे? जब चेतनलाल ने उनके स्वर्गवास की बात बताई तो एकदम होश में आये और अनेक प्रकार से दुःख प्रगट करने लगे, खोद-खोद कर अनेक बातें पूछने लगे।

जब सब-कुछ जान लिया तो विचारमग्न हो गये। कभी चेतनलाल को गौर से देखते तो कभी हथेली में रखे लाल को बारीकी से परखते। कभी संसार के स्वरूप पर विचार करते तो कभी जीवन की क्षणभंगुरता के बारे में सोचने लगते। कभी जवाहरलाल के दुर्भाग्य पर दुःखी होते तो कभी अपने दुर्भाग्य पर।

उनके चेहरे पर आते-जाते भावों को चेतनलाल बारीकी से पढ़ रहा था, पर उनके अन्तर तक पहुँचना सम्भव नहीं हो पा रहा था।

जब बहुत देर हो गयी तो उसका धैर्य टूटने लगा और उसने उनकी विचार-शृंखला को बीच में ही तोड़ते हुए कहा -

"सेठजी, इस लाल की आप क्या कीमत दे सकते हैं?"

अत्यन्त गम्भीर स्वर में सेठजी बोले - "मेरे पास इतनी सम्पत्ति कहाँ, जो इस लाल की कीमत चुका सकूँ। इस लाल पर तो मैं अपना सब-कुछ न्योछावर कर सकता हूँ, पर यह मेरे भाग्य में कहाँ ?"

चेतनलाल को उनकी बातें यद्यपि बहुत अच्छी लग रही थीं, फिर भी उसे कुछ अटपटा अवश्य लग रहा था। उसकी समझ में यह नहीं आ रहा था कि बाजार में तो लोग इसकी बहुत कम कीमत लगा रहे थे और ये अपार सम्पत्ति के मालिक सबसे बड़े जौहरी इसे इतना कीमती बता रहे हैं, आखिर माजरा क्या है?

'कहीं सेठजी मेरा मजाक तो नहीं उड़ा रहे हैं' - यह विचार आते ही सेठजी की गम्भीरता देखकर इस बात पर विश्वास करने को भी उसका मन तैयार नहीं हुआ।

जब उसकी समझ में कुछ नहीं आया तो हिम्मत करके बोला -

"मेरे लिए क्या आदेश है?"

"आदेश, आदेश तो क्या दूँ; पर यदि तुम चाहों तो एक सलाह अवश्य दे सकता हूँ।"

"फरमाइये"

"अभी सीजन ऑफ है, इसकी सही कीमत अभी मिलना सम्भव नहीं है। यदि सही कीमत चाहते हो तो कुछ दिन प्रतीक्षा करनी होगी। बरसात निकल जाने के बाद बाहर से व्यापारियों का आवागमन हो जावेगा, तब इसकी सही कीमत मिल सकेगी।"

"तबतक रुकना तो सम्भव नहीं है।"

"क्यों?"

"क्योंकि, अब आपसे क्या छिपावें; हमारे पास...।"

वह अपनी बात पूरी ही न कर पाया था कि सेठजी बोल पड़े -

"बेटा, इसकी चिन्ता मत करो। हम सब व्यवस्था करेंगे।"

"नहीं, यह नहीं हो सकता।"

"क्यों नहीं हो सकता?"

"....."

"हम जानते हैं, तुम जवाहरलाल जवेरी के बेटे हो, किसी का अहसान नहीं ले सकते। यही न?"

"नहीं,.....।"

"नहीं, नहीं; मैं सब जानता हूँ। अरे भाई! छह माह को तुम हमें ही अपना पिता समझ लो।"

"आप कैसी बातें करते हैं ?"

"ठीक कहता हूँ बेटा, जवाहरलाल जैसा मेरा भाग्य कहाँ?"

"आप जैसा भाग्यवान.....।"

"जाने दो; लाल बिकने पर वह सब चुका देना, जो तुम तबतक के लिए हम से लो। पिता का मित्र होने से इतना अधिकार तो हमारा है ही।"

कहकर सेठजी ने उस लाल को एक तिजोरी में रखकर उसका ताला अच्छी तरह लगाकर चाबी चेतनलाल को दे दी और कहा -

"इस चाबी को आज ही रजिस्ट्री से अपनी माँ के पास भेज दो। एक स्लिप पर हस्ताक्षर कर इस तिजोरी को सील कर दो।"

उनके स्नेहपूर्ण व्यवहार से अभिभूत होकर चेतनलाल कुछ भी न बोल सका और सम्मोहित व्यक्ति की भाँति उनका आदेश पालन करता गया।

सेठजी ने उसके रहने, खाने-पीने आदि की समुचित व्यवस्था करने के बाद पेढ़ी के सभी कर्मचारियों को आदेश दिये कि कोई भी माल खरीदा या बेचा जाये, चेतनलाल को दिखाये बिना नहीं खरीदा-बेचा जाना चाहिए।

(७)

समय जाते क्या देर लगती है? बातों ही बातों में छह माह बीत गये। चेतनलाल की आँखों के सामने से लाखों लाल निकल चुके थे। अब वह एक बहुत अच्छा जौहरी बन गया था।

सीजन चालू हुआ। बाहर के व्यापारियों का आवागमन भी चालू हो गया। बाजार अपनी पूरी तेजी पर था। चेतनलाल ने अवसर देखकर सेठ साहब से कहा -

"अब लाल बेचने का समय आ गया है। हमारा लाल भी बिकवा दीजिये।"

"भाई ! अब हम क्या बिकवायेंगे? अब तो तुम स्वयं बहुत होशियार हो गये हो। माँ से चाबी मगाँ लो और लाल निकालकर स्वयं बेचो।"

अनुमति पाकर उसने तत्काल चाबी भेजने के लिए माँ को पत्र लिख दिया। आठ दिन के भीतर चाबी भी आ गई। सेठजी के कहने पर उसने स्वयं सील तोड़कर तिजोरी खोली और लाल निकाला तो उसे देखकर वह हक्का-बक्का रह गया। वह तो काँच का टुकड़ा मात्र था। उसकी आँखों से झरझर आँसू झरने लगे।

सेठजी की पैढ़ी समुद्र के किनारे ही थी। उसने उस लाल को एकदम समुद्र में फेंक दिया और फूट-फूटकर रोने लगा।

सारी पैढ़ी में सन्नाटा छा गया। लोगों की समझ में कुछ नहीं आया। जब सेठजी ने उसके माथे पर हाथ फेरते हुए पूछा -

"क्या हुआ?"

तब वह जोर-जोर से कहने लगा -

"आपने मुझे धोखा दिया, झूठ बोला, कर्जे में डाल दिया····।"

उसकी यह बात सुनकर लोग आपस में अनेक प्रकार की बातें करने लगे।

एक ने कहा - "सेठजी ने उस बिचारे का लाल बदल लिया है।"

दूसरे ने कहा - "यह कैसे हो सकता है? उसने अपने हाथ से रखा था, ताला लगाया था, चाबी घर भेज दी थी, तिजोरी सील कर दी थी, फिर स्वयं खोली।"

तीसरा कहने लगा - "यह सब तो नाटक था; आज क्या नहीं हो सकता? तिजोरी बन्द की बन्द रहे और माल सब गायब हो जाये।"

चौथा बोला - "गायब कहाँ हुआ?"

पाँचवा बोला - "बदल तो गया। बदलने और गायब होने में क्या अन्तर है?"

व्यंग करता हुआ छठा कहने लगा - "गायब हो जाता तो चोरी पकड़ी न जाती? अरे, यह सब इतनी चतुराई से किया गया होगा कि फंसे भी नहीं और माल भी...।"

(८)

यहाँ सब लोग आपस में चर्चा कर रहे थे। वहाँ सब-कुछ समझते हुए भी सेठजी समझाते हुए बोले - "कैसा झूठ, कैसा धोखा, कैसा कर्जा?"

विह्वल होते हुए चेतनलाल बोला -

"इस कांच के टुकड़े को आपने बेशकीमती बताया और मुझे छह महीने में हजारों रुपये देकर अपना कर्जदार बना लिया। अब मैं आपका कर्जा कहाँ से चुकाऊँगा ?"

"पगले, मैंने तो इस चेतनलाल को बेशकीमती बताया था। सो तू ही बता, जिसे छह महीनों में ही असली-नकली की पहिचान हो गयी, वह बेशकीमती लाल है या नहीं। अरे जीवनभर लाल परखने का धन्धा करनेवाले तेरे पिताजी भी जिसे न परख पाये, उसे तूने छह माह में अनुभव से ही परख लिया। तू अपनी शक्ति को तो पहचान।

आज तक सबने अचेतन लालों को ही परखा है, चेतन लालों को नहीं परखा। मैंने तो चेतनलाल को ही परखा था, उसी की कीमत बताई थी।"

"आपने मुझसे तभी सब-कुछ स्पष्ट क्यों नहीं कहा?"

"तब कहता तो तुझे विश्वास ही नहीं आता। **जबतक स्वयं परखने की दृष्टि न हो तो उधार की बुद्धि से कुछ लाभ नहीं होता।** यदि विश्वास आ भी जाता तो तू निराश हो जाता, इस ओर बढ़ता ही नहीं, पुरुषार्थहीन हो जाता। जौहरी बन ही नहीं पाता।

स्वयं से उद्घाटित सत्य जितना लाभदायक होता है, उतना दूसरों के द्वारा उद्घाटित नहीं। समय का भी अपना एक महत्त्व है।"

जब वह कुछ स्वस्थ हुआ तो कहने लगा -

"इतने अनुभवी मेरे पिता से यह गलती आखिर हुई कैसे?"

"**बुद्धि भी भवितव्य का अनुसरण करती है। जब खोटा समय आता है तो बड़े-बड़े बुद्धिमानों की बुद्धि पर भी पत्थर पड़ जाते हैं।** जो तुम आज सोच रहे हो, उस दिन मैं भी तो इसी उलझन में उलझ गया था। लेकिन जो कुछ हुआ सो ठीक ही हुआ। तुम और तुम्हारी माँ इसी भ्रम में तो खड़े रहे। इसका सहारा न होता तो तुम्हारी माँ न जाने कब की टूट गई होती।"

"यह सब जानते हुए भी आपने अपने को अभागा और मेरे पिता को भाग्यवाला क्यों कहा था?"

"ठीक ही तो कहा था, उसे तो मैं आज भी सत्य मानता हूँ।"

"क्यों, कैसे?"

"तुझ जैसा चेतनलाल जिसने पाया हो, वह मुझ जैसे सन्तानहीन से भाग्यवान ही है। तू चाहे तो मुझे भी भाग्यवान बना सकता है और अपना कर्जा भी उतार सकता है।"

"मैं आपको क्या भाग्यवान बनाऊँगा, पर कर्जा अवश्य उतारना चाहता हूँ। कोई उपाय हो तो बताइये।"

"उपाय तो है, पर बताऊँगा नहीं।"

"क्यों?"

"क्योंकि यदि तूने नहीं माना तो ?"

"क्यों नहीं मानूँगा ?"

"मानेगा तो वचन दे।"

"दिया।"

"मैं अपनी सारी सम्पत्ति देकर तुझे खरीदना चाहता हूँ, गोद लेना चाहता हूँ। तुझे अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाना चाहता हूँ। जिस दिन से तुझे देखा; उसी दिन से मेरे मन में यही भावना निरन्तर प्रबल होती रही है। मानेगा मेरी बात?"

"आपने कहा तो कभी नहीं।"

"मैंने तो अनेक बार कहा; पर तू समझा नहीं, तो मैं क्या करूँ?"

"कब?"

"क्या मैंने नहीं कहा था कि मैं सारी सम्पत्ति देकर भी इस लाल की कीमत नहीं चुका सकता।"

"कहा तो था।"

"बस, मैं चेतनलाल की ही कीमत लगा रहा था।"

(९)

अब तो पिछली सभी बातें उसे स्पष्ट होने लगीं थीं। वह सोच रहा था कि **ज्ञानियों की वाणी का रहस्य भी हम कहाँ समझ पाते हैं? वे जितनी गहराई से बोलते हैं, हम उसकी कल्पना भी तो नहीं कर पाते।**

सड़कों पर, गलियों में घूमते दर-दर की ठोकर खाते चेतन लालों की कीमत आज किसको है? आज तो सभी जड़ रत्नों के पीछे भाग रहे हैं। आज कौनसा घर इन चेतन लालों से खाली है? **कमी लालों की नहीं; उन्हें पहिचाननेवालों की है, सँभालनेवालों की है। दूसरों की बात जाने दीजिये; हम स्वयं लाल हैं, पर अपने को पहिचान नहीं पा रहे हैं।**

होना तो महत्त्वपूर्ण है ही; पर जानने, पहिचानने का भी महत्त्व है। हम स्वयं ज्ञान के घनपिण्ड एवं आनन्द के कन्द हैं, पर अपने को जाने-पहिचाने बिना कंगाल हो रहे हैं। यदि अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द की कंगाली दूर करना है तो अपने आपको जानना होगा, पहिचानना होगा; ग्रन्थिभेद करना ही होगा अर्थात् मिथ्यात्व की गाँठ खोलनी ही होगी।

कबीर ने ठीक ही कहा है —

"सबके पल्ले लाल, लाल बिना कोई नहीं।
यातैं भये कंगाल, गाँठ खोल देखी नहीं॥" ●

तिरिया-चरित्तर

(१)

जिसप्रकार आदमी का चेहरा उसके अन्तर का दर्पण होता है; उसीप्रकार गाँव के पनघट को भी गाँव के अन्तर का दर्पण कहा जा सकता है। जिसप्रकार हस्तरेखा विशेषज्ञ हाथ की रेखाएँ देखकर आदमी का स्वभाव एवं प्रवृत्तियाँ पहिचान लेता है; उसीप्रकार पनघट पर होनेवाले संवादों से गाँव के चरित्र को पहिचाना जा सकता है। पनघट को नारियों की चौपाल ही समझिये।

रस्सियों की अनवरत रगड़ से पनघट पर पड़े निशानों पर जिस गति से रस्सियाँ सरसराती हुई सरकती हैं, पनिहारिनों की जबान भी उससे कम नहीं सरकती। संवादों के ग्रहण एवं प्रसारण में जो चतुराई पनघट पर देखी जा सकती है; वह बात संवाद-एजेन्सियों में कहाँ? क्योंकि मानवस्वभाव की जैसी गहरी पकड़ उन अनपढ़ पनिहारिनों में पाई जाती है; वैसी पकड़ विश्वविद्यालयीन कारखानों में ढले डिग्रीधारी पत्रकारों में प्राप्त होना असम्भव नहीं तो दुर्लभ तो है ही।

एक तो पनघट अपने आप में अद्‌भुत स्थल होता ही है, यदि वह पगडंडी के किनारे हो तो फिर क्या कहना ? पनघटों पर होनेवाली चर्चा के रसिक राहगीर जब पानी पीने के बहाने पनघट पर रुक-रुक कर बिन प्यास के ही पानी पीने की आतुरता व्यक्त करते हैं, पनिहारिनों से पानी पिलाने का अनुरोध करते हैं तो पनिहारिनों को उनकी प्यास का राज समझते देर नहीं लगती है। वे उनकी रसिकता का रस लेती हुई उन्हें अपने भोले बाग्जाल में ऐसा उलझाती हैं कि उनका सुलझना कठिन हो जाता है।

ऐसे ही पनघट की एक पनिहारिन ने जब दूर आता हुआ एक ऊँटों का काफिला देखा तो चकित हुए बिना न रही; क्योंकि ऊँटों पर पोथियाँ ही पोथियाँ लदीं थीं। सबसे आगे एक ऊँट पर एक त्रिपुण्डधारी ब्रह्मज्ञानी पण्डितराज विराजमान थे, पीछे पोथियों से लदा ऊँटों का लम्बा काफिला था। ऊँटों के रसिया सईस जब पानी पीने के बहाने पनघट पर रुके एवं पनिहारिन से पानी पिलाने का आग्रह करने लगे, तब पनिहारिन भी अपनी उत्सुकता नहीं दबा सकी। उन्हें पानी पिताते हुए उसने पूछा -

"ये तिलकधारी सौदागर कहाँ के हैं और इन ऊँटों पर क्या माल लदा है?"

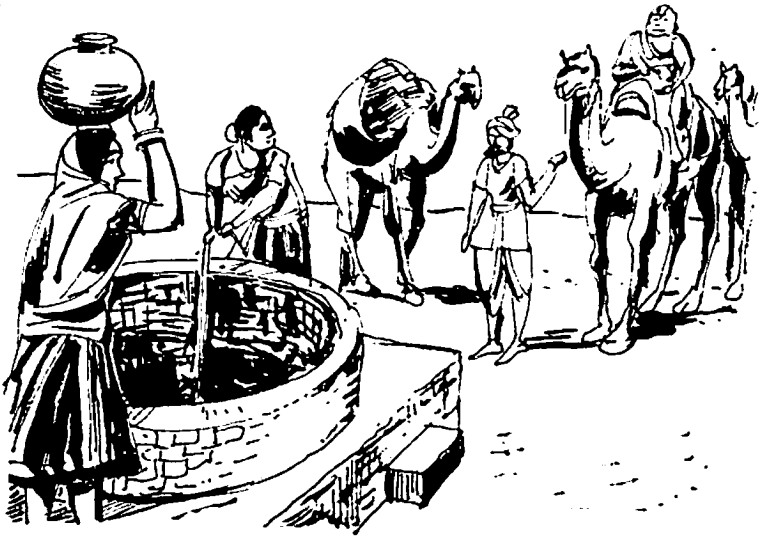

उसकी अज्ञानता पर हँसते हुए एक बोला -

"ये महाराज तुम्हें सौदागर-से लगते हैं? - ये सौदागर नहीं, ब्रह्मज्ञानी पण्डितराज हैं ··· पण्डितराज।"

पनिहारिन ने बड़ी उपेक्षा से कहा -

"होंगे, पर इन ऊँटों पर लदा माल क्या है? हमें तो माल से मतलब···।"

"इसे तुम माल कहती हो ? यह माल नहीं, शास्तर हैं···शास्तर; पण्डितराज के लिखे हुए शास्तर हैं।"

"क्या नाम है इन शास्त्रों का ?"

- जब उसने यह पूछा तो सभी एक साथ बोले - "**तिरिया-चरित्तर**"

"अच्छा" - आश्चर्य व्यक्त करती हुई पनिहारिन बोली।

पनिहारिन पर प्रभाव पड़ते देख उन्होंने पण्डितराज की प्रशंसा के ऐसे पुल बाँधे कि पनिहारिन गद्‌गद् हो गई।

उसने अति ही विनम्र शब्दों में उनसे अनुरोध किया कि इतने विद्वान् शास्त्रज्ञ पण्डितराज हमारे गाँव से निकल जावें और हम इनकी कुछ भी सेवा-सत्कार न कर सकें तो हमारे जैसा अभागा कौन होगा। आज तो महाराज सहित आप सबको हमारे घर पधारना होगा, भोजनपान करके ही जाना होगा। जो कुछ भी बनेगा; महाराज को तो दान-दक्षिणा देंगे ही, आप लोग भी समुचित सेवा से वंचित नहीं रहेंगे। किसी भी प्रकार हो, मुझे महाराजश्री के दर्शन करा दीजिए, महाराज से मिलवा दीजिए। उनके अगाध पाण्डित्य का थोड़ा-बहुत लाभ हमें भी मिलना चाहिए।

(२)

उसकी श्रद्धा-भक्ति देखकर वे उसे पण्डितराज के पास ले गये। उसने भी पण्डितराज की भगवान जैसी स्तुति की। पण्डितों को और चाहिये भी क्या ?

प्रशंसा मानव-स्वभाव की एक ऐसी कमजोरी है कि जिससे बड़े-बड़े ज्ञानी भी नहीं बच पाते हैं। निन्दा की आँच भी जिसे पिघला नहीं पाती, प्रशंसा की ठंडक उसे छार-छार कर देती है।

पुस्तकों के कीड़े विश्वविद्यालयीन विशेषज्ञों के समान पोथियों में ही मग्न पण्डितराज ने नारी-चरित्रों को पढ़ा ही पढ़ा था, लिखा ही लिखा था; लखा नहीं था।

नारियों को नरक का द्वार माननेवाले ब्रह्मज्ञानी पण्डितराज जब उनकी ओर देखना भी पाप समझते थे तो उनका अध्ययन कैसे कर सकते थे ? उनकी दृष्टि में अध्ययन की वस्तु तो एकमात्र पोथियाँ हैं, शास्त्र हैं; सो उन्होंने हजारों शास्त्र-भण्डार छान ही मारे थे।

नारियों की शक्ल से ही परहेज करनेवाले पण्डितराज के कानों में जब सुकोमल नारीकण्ठ से निनादित प्रशंसावाचक मधुर शब्द पड़े तो उनके सरल हृदय को पिघलते देर न लगी।

उसका अनुरोध स्वीकार कर, काफिले को वहीं रोक; नीचे गर्दन किए ईर्यासमितिपूर्वक गमन करती, निज मस्तक पर शीतल जलापूरित मंगलकलश धारण किए उस गजगामिनी के चरण-चिह्नों पर चलते हुए वे उसके घर जा पहुँचे।

(३)

शकुनशास्त्र के विशेषज्ञ पण्डितराज आज अपने भविष्य के प्रति अत्यन्त आशावान हो रहे थे; क्योंकि शीतल जलापूरित मंगल घट लिए सुहागिन के दर्शन मात्र को जब परममंगल का सूचक माना गया है; तब उनके आगे तो ऐसी सुहागिन साक्षात् चल रही थी, उन्हें आमन्त्रित कर अपने घर ले जा रही थी।

नारी-चरित्रों के अनेक कुत्सित एवं उज्ज्वल पक्षों के चतुर चितेरे पण्डितराज आज मन ही मन गद्‌गद हो रहे थे। उनके पाण्डित्य का जन-जन पर कैसा प्रभाव है - इसका आज उन्हें साक्षात् अनुभव हो रहा था। वे इन विचारों में इतने मग्न थे कि उन्हें पता ही न चला कि वे कब उसके घर पहुँच गये, कब उसने उन्हें उच्चासन पर बिठाया, कब उनकी आरती उतारी तथा कब उन्हें आराम करने का निर्देश देकर रसोई बनाने के काम में मग्न हो गई।

यहाँ पण्डितराज नारी-चरित्रों की गहराइयों में गोता लगा रहे थे, वहाँ वह नारी-चरित्र की विशेषज्ञ अपढ़ महिला मुख्य दरवाजे के किवाड़ बन्द कर निश्चिन्त हो अपने गृहकार्य में उलझ गई।

(४)

थोड़ा-बहुत गृहकार्य निपटाकर वह ध्यानस्थ पण्डितराज के पास आई एवं पंखा झलते हुए अत्यन्त विनम्र शब्दों में इसप्रकार बोली -

''क्यों महाराज? यह सब शास्त्र आपने ही लिखे हैं या ...''

वह अपनी बात पूरी ही न कर पाई थी कि महाराज उपदेश की मुद्रा में आते हुए बोले -

"हाँ, हाँ, हम ही ने लिखे हैं। इनमें नारी-चरित्र के सभी पहलुओं पर बड़ी ही गहराई से प्रकाश डाला गया है। इनमें कौशल्या और कैकेई, सीता और सूर्पनखा, राधा और कुब्जा, मन्दोदरी और मन्थरा आदि सभी प्रकार के नारी-चरित्रों को अन्तरंग मनोविज्ञान एवं तर्क की कसौटी पर परखा गया है।

इनमें क्या नहीं है? नारी का शील है, संयम है; चंचलता है, कुटिलता है प्रेम है, प्रेमाभिनय है। नारी हृदय की गहराईयों के गुप्त से गुप्त रहस्य को इनमें उद्घाटित कर दिया गया है। अधिक क्या कहें -

'स्त्रीचरित्रं, पुरुषस्य भाग्यं। देवो न जानाति, कुतो मनुष्यः ;'

- यह ग्रन्थराज इस सूक्ति की सत्यता पर प्रश्नचिह्न लगा देनेवाला सिद्ध होगा।"

पण्डितराज का अपने पाण्डित्य को प्रदर्शित करनेवाला प्रवचन धाराप्रवाहरूप से चल रहा था और उनकी एकमात्र श्रोता गृहमालकिन महिला बड़े ही गद्गदभाव से सुने जा रही थी।

जब पण्डितराज ने जरा-सी साँस ली तो उसने अवसर पाकर एक छोटा-सा प्रश्न दाग दिया - "क्यों महाराज आप तो ब्रह्मज्ञानी भी हैं न ?"

"हाँ, हाँ; ब्रह्मज्ञानी तो हैं हीं। हमारे ये बाल धूप में सूखकर सफेद थोड़े ही हुए हैं। आत्मा और परमात्मा की मीमांसा में ही जीवन बीता है। ब्रह्मलीनता ही हमारा मुख्य कार्य है। आत्मा-परमात्मा की तो हम नस-नस जानते हैं।"

"अच्छा, महाराज ! क्या आत्मा में भी नसें होती हैं?"

उसकी मूर्खतापूर्ण जिज्ञासा पर अट्टाहास करते हुए पण्डितराज बड़े ही कोमल सम्बोधनों से सम्बोधित करते हुए बोले -

"बेटी, तुम नहीं समझोगी। आत्मा में तो नसें नहीं होतीं, पर यहाँ नस का अर्थ नस नहीं समझना, गहराई समझना चाहिए।

हम सब जानते हैं कि गीता में आत्मा को अजर-अमर कहा है, गोम्मट्टसार में मैली-कुचैली कहा है और समयसार में शुद्ध-बुद्ध बताया है।"

"शास्त्रों में तो बहुत-कुछ कहा है, पर महाराज आत्मा है कैसा ? आपने तो देखा होगा न ?"

"हाँ, हाँ; क्यों नहीं ? सब-कुछ देखा है शास्त्रों में। क्या नहीं देखा बेटी? यह सारी उमर शास्त्रों को देखते-देखते ही तो बीती है···।"

(५)

पण्डितराज का यह व्याख्यान न मालूम कब तक चलता रहता, यदि बाहर से किवाड़ों की खटखटाहट तेज न हो जाती ।

किवाड़ों की तेज खटखटाहट सुनकर वे दोनों एकदम चौंक पड़े। बाहर से आती हुई आवाज सुनकर घबड़ाती हुई गृह-मालकिन बोली -

"महाराज ! अनर्थ हो गया।"

निश्चिन्त पण्डितराज बोले -

"क्यों क्या हुआ ? कौन खटखटा रहा है ये किवाड़।"

"मेरा क्रोधी पति और कौन खटखटायेगा। महाराज? बहुत क्रोधी है; बड़ा अनर्थ हो गया समझो। मैंने तो वैसे ही किवाड़ लगा दिये थे कि कहीं कुत्ता-बिल्ली न आ जाये। लगता है उसने हमारी बातें सुन ली हैं, उसे शक हो गया है।"

"किस बात का ? अपन ने ऐसी क्या बात की है, जो उसे नहीं सुननी चाहिए थी ?"

घबराहट में थरथर काँपती हुई वह बोली - "महाराज, आप त्रियाचरित्र के तो विशेषज्ञ हैं, परन्तु पुरुषों के स्वभाव से अपरिचित जान पड़ते हैं। **क्या किसी पुरुष के लिए किवाड़ बन्द करके किसी परपुरुष के साथ उसकी पत्नी की उपस्थिति मात्र उत्तेजित करने के लिए पर्याप्त नहीं है?**

मैं और आप दोनों अकेले घर में हैं और किवाड़ बन्द हैं; क्या कोई भारतीय पति इतनी बात बरदाश्त कर सकता है ?

भारत की मिट्टी में जन्मे राम जैसे भगवान ने भी क्या सीता का परित्याग मात्र इसलिए नहीं कर दिया था कि वे कुछ समय रावण के यहाँ रहीं थीं। सीताजी की अपवित्रता का उनके पास क्या प्रमाण था ?

फिर मेरा यह पति राम तो है नहीं ? यह तो क्रोध में परशुराम का भी बाप है। न मालूम अब क्या होगा ?

मेरा तो जो कुछ होगा सो होगा, पर आपका क्या होगा ? मुझे तो इस बात की चिन्ता है।

मुझे तो मुआ मारेगा, पीटेगा और क्या करेगा ? घर से तो निकालने से रहा; क्योंकि यह राम तो है नहीं। फिर राम के तो और भी बहुत-सी रानियाँ थीं, इसके तो मैं अकेली ही हूँ; मुझे छोड़कर जायेगा कहाँ ? चिन्ता तो आपकी है। यह आपको जिन्दा न छोड़ेगा।

मुझे तो उस दिन की याद आती है, जब एक बार ऐसा ही घट गया था। इसका सगा भाई - मेरा देवर ऐसे ही किवाड़ बन्द करके मुझसे बतिया रहा था और यह आ गया। इसके आवाज देने पर मैंने तत्काल किवाड़ खोल दिये, पर इसे इतना गुस्सा आया कि उसे जान से ही मार डाला। मैंने बहुत हाथ-पैर जोड़े, पर इसने एक न सुनी; मैं बहुत गिड़गिड़ाई, उसके प्राणों की भीख माँगी; पर यह दुष्ट सगे भाई पर भी न पसीजा। आखिर उसकी लाश को मुझे ही इसी आँगन में गाड़ देना पड़ा। मेरी भी इसने कम पिटाई न की थी। महीनों बिस्तर पर पड़ी रही थी। कुछ नसें तो आज भी दुखती हैं।''

(६)

वह ज्यों-ज्यों उस दिन का भयानक चित्रण करती, त्यों-त्यों पंडितराज के होश-हवास गायब होने लगे। वे पसीने से तर-बतर हो गये। उनसे कुछ कहते ही न बना। जबान तालू से चिपक कर रह गई। उधर बाहर से पुरुष की आवाज़ और किवाड़ों की खटखटाहट प्रतिक्षण तेज होती जा रही थी।

पण्डितराज को भयाक्रान्त देख वह बोली -

"जल्दी करो महाराज ! आप इस सन्दूक में बैठ जाओ। इसके अतिरिक्त बचने का कोई दूसरा उपाय नहीं है।"

"क्या कहा, सन्दूक में..... ?"

"हाँ, हाँ ! सन्दूक में । एक-आध घंटा ही बैठना होगा। खाना खा-पीकर चला जावेगा वह खेत पर, तब आपको निकाल लूँगी।"

किंकर्त्तव्यविमूढ़ पण्डितराज कुछ सोचते, इसके पहिले ही उसने उनका हाथ पकड़ कर सन्दूक में बिठा दिया और बोली -

"देखी आपने पुरुषों की पशुता ! स्वयं चाहे हजारों औरतों से सबप्रकार के सम्बन्ध रखें, परन्तु स्त्री को किसी से बात करते देख लिया तो हो गये पागल। यह नहीं सोचते कि नारियाँ भी तो पुरुषों के समान ही हाड़मांसवाली प्राणी हैं।"

- कहते हुए उसने सन्दूक बन्द कर दी, फिर उस पर ताला लगाकर चाबी अपनी कमर में लटका ली और मस्त चाल से चलती हुई जाकर किवाड़ खोल दिये।

जब नाराज होते हुए पति ने उससे पूछा कि किवाड़ खोलने में इतनी देर क्यों लगाई, तो मुस्कुराती हुई बोली -

"एक आदमी था; जब उसे छिपा पाया, तभी तो किवाड़ खोलती; जल्दी कैसे खोल देती ?"

उसके उत्तर को मजाक समझते हुए उत्तेजित हो जब उसने यह कहा -

"मजाक करती है, सच क्यों नहीं बताती?"

तब वह गम्भीर होती हुई बोली - "तुम्हें तो सब मजाक ही लगता है। मैं तुमसे क्यों मजाक करने लगी, सच कहती हूँ कि जब आदमी को छिपा पाया, तभी किवाड़ खोले हैं। यदि तुम्हें मेरी बात पर विश्वास न हो तो देख लो उस सन्दूक में बन्द है।"

- यह कहते हुए उसने कमर में से चाबी का गुच्छा निकालकर उसके सामने फेंक दिया।

उसके इस व्यवहार को देखकर उसका पति और सन्दूक में बन्द पंडितराज दोनों ही स्तम्भित हो गये।

पण्डितराज को दिन में ही तारे नजर आने लगे। उन्हें इसमें किसी गहरे षड्यन्त्र की गन्ध आने लगी। नारी-चरित्र का यह पक्ष तो आज तक उनकी कल्पना में भी न आया था। वे सोच रहे थे कि समय और परिस्थितियाँ बदलते देर नहीं लगती। कहाँ तो वे अभी कुछ समय पहले ही कल्पनालोक में विचरण कर रहे थे और पलभर में ही इस नरक में कैद हो गये। अभी-अभी एक समय पहिले तो उन्हें यह चिन्ता सता रही थी कि न मालूम इस सन्दूक के कारागृह से कब छूटूँगा ? छूटूँगा भी या इसी में सड़ जाऊँगा; पर चाबियों के गुच्छे के गिरने एवं 'खोलकर देख लो' - शब्दों को सुनकर तत्काल निकलने की सम्भावना नजर आने लगी, पर यह छुटकारा बन्धन से भी भयानक लग रहा था। क्षण भर पहिले तो वे बाहर निकलने को व्याकुल थे, अब बाहर निकलने से घबड़ाने लगे।

तिरिया-चरित्तर के इस साक्षात् दर्शन ने उन्हें ऊँटों पर लदे '**तिरिया-चरित्तर**' की स्मृति भी गायब कर दी थी। उन्होंने इस बात की कल्पना भी न की थी कि '**तिरिया-चरित्तर**' के लेखक, स्त्रीचरित्र के विशेषज्ञ विद्वान् को तिरिया-चरित्तर के साक्षात् दर्शन इस रूप में होंगे।

यद्यपि उसके पति को उसकी बात पर विश्वास नहीं आ रहा था; तथापि शंकालु पुरुषमन डगमगा रहा था। कहीं सचमुच ही कोई जार इस सन्दूक में बन्द न हो - यह विकल्प प्रतिक्षण प्रबल होता जा रहा था। शंकालु हृदय ने जब बुद्धि पर काबू पाया तो उसे इस निर्णय पर पहुँचने में देर न लगी कि न होगा तो न सही, पर देख लेने में क्या हानि है ?

अपने निर्णय को कार्यरूप देने के लिए ज्यों ही वह चाबी उठाने को झुका; त्यों ही उसकी पत्नी पल्लू को मुँह में दबाती हुई ठहाका मारकर हँस पड़ी। उसके इस ठहाके का व्यंग समझते उसे देर न लगी और वह चाबी के गुच्छे से उसीप्रकार दूर हट गया, जिसप्रकार बालक विषधर को देखकर दूर हट जाता है।

पति को अपनी मूर्खता पर लज्जा का अनुभव हो रहा था। उसे और अधिक लज्जित करने के उद्देश्य से वह बड़ी देर तक हँसती ही रही। जब उस पर घड़ों पानी पड़ गया तो इसने पैंतरा बदला और घृणा व्यक्त करती हुई उसे फटकारने लगी।

"भगवान ने तुम्हारे हृदय को क्या शंकालु परमाणुओं से ही बनाया है ? बरसों तुम्हारे घर में रहते हो गये, पर तुम्हें अबतक मुझ पर विश्वास ही नहीं हुआ। चार-चार बच्चों के बाप हो गये, पर मन न बदला। अपने जैसा सबको समझते हो। अपन तो दुनिया में डोलेंगे, दो-दो बजे तक घर आवेंगे; पर किवाड़ खोलने में दो मिनट की देर हो जावे तो घर को माथे पर उठा लेंगे। इतना ही शक है तो मुझे साथ ही क्यों नहीं रखते ? गले में लटका लो। पर साथ में रखेंगे कैसे ? रखेंगे तो सत्तरह जगह मुँह मारने का मौका कैसे मिलेगा ? पत्नी को सती सीता देखना चाहते हैं, पर स्वयं रावण बने रहना चाहते हैं।

भगवान तू मुझे उठा क्यों नहीं लेता ? अब मुझसे नहीं सहा जाता।

हे माँ, हे पिताजी; आपने मुझे पैदा होते ही क्यों न मार डाला ? इससे अच्छा तो मुझे कुए में पटक देते। इस अविश्वास का दु:ख मुझ से नहीं सहा जाता। मैं तो ..."

- कहते-कहते जब वह बड़े जोर-जोर से रोने लगी तो शेर बने पति महोदय पानी-पानी हो गये।

(७)

पण्डितों के प्रवचनों में वह सामर्थ्य कहाँ, जो नारियों के आँसुओं में है। वे अपनी बात को आँसुओं से भीगी भाषा में रखने में इतनी चतुर होती हैं कि बड़े-बड़े धर्मात्मा भी अपने को पापी समझने लगें।

वह सीधा-सादा, सरल हृदय, सदाचारी कृषक पति उसके आँसुओं और प्रताड़न से अपने को सचमुच ही बड़ा पापी समझने लगा। फिर भी जब पत्नी का नाटकीय क्रोध शान्त न हुआ तो निराश हो उद्विग्न हो उठा।

(८)

फिर एक दृश्य बदला। वह चतुर पत्नी पति की उद्विग्नता दूर करने के लिए फिर महासती बन गई, अपने अकारण क्रोध पर खेद व्यक्त करने लगी, पति परमेश्वर का दिल दुखाने के लिए परमात्मा से क्षमायाचना करने लगी।

उसने अपनी कला से पलभर में ही विकृत वातावरण को एकदम सहज कर दिया।

(९)

रंगभूमि में दृश्य जिस तेजी से बदल रहे थे, पंडितराज उतनी तेजी से अपनी चिन्तनधारा को गति नहीं दे पा रहे थे। जबतक वे एक दृश्य की मीमांसा करते, तबतक वह दृश्य ही गायब हो जाता। नाटक के रंगमंच पर रस-परिवर्तन इस तेजी से हो रहा था कि आँखों की पुतलियाँ उनका साथ नहीं दे पा रही थीं। कभी हास्य, कभी शृंगार; कभी वीर, कभी वीभत्स; कभी करुण तो कभी शान्त रस का परिपाक हो रहा था। यद्यपि यह सब-कुछ कुछ पलों में ही घटित हो गया था, पर किसी भी रस का परिपाक अधूरा न छूटा था।

जीवन की इतनी तेज गति का अनुभव तो पंडितराज को कभी न हुआ था। जिस नारी को वे मंथर गतिवाली गजगामिनि समझ रहे थे, उसने जब अपनी चाल से जेट विमान को भी मात कर दिया तो उनका माथा चकराये बिना नहीं रहा।

(१०)

कृषक भोजन-पान कर खेत पर जा चुका था। अब उसने सन्दूक खोलकर पंडितराज को बाहर निकाला और व्यंग्यबाण छोड़ती हुई बोली -

"तिरियाओं का यह चरित्तर भी तुम्हारी इन पोथियों में है ?"

पसीना पोंछते हुए पंडितराज बोले -

"नहीं, यह तो मैंने आज ही देखा है।"

"नहीं, तो फाड़ डालो इन पोथियों को; आग लगा दो इन पोथियों में। इनमें तुमने जिन नारियों के चरित्रों का चित्रण किया है, वे इस लोक की नहीं, कवियों के कल्पना-लोक की नारियाँ हैं; ऋषियों के भावना-भवन में जन्मी, पली-पुसी नारियाँ हैं, लेखकों के हाथों की कठपुतलियाँ हैं। कठोर बत्तीस दाँतों के बीच रहनेवाली कोमल जबान की जिन्दादिली, ताजगी, चपलता और चतुराई जैसी इन क्रूर पुरुषों के बीच जीवन निर्वाह करनेवाली हम जैसी जिन्दा वीरबालाओं में पाई जाती है; वैसी तुम्हारी पोथियों में कैद कल्पनालोक की काल्पनिक कन्याओं में कहाँ ?"

अब वह अपढ़ वीरबाला प्रवचन कर रही थी और ब्रह्मज्ञानी पण्डितराज पहली कक्षा के बालक के समान भयभीत विनम्र मुद्रा में उसके सामने बैठे सुन रहे थे।

जब उसका प्रवचन समाप्त हुआ तो सकपकाते हुए पंडितराज बोले -

"तो क्या यह सब सत्य नहीं था, तथ्य नहीं था; मात्र नाटक था, भ्रमजाल था।"

"यह नाटक भी था और सत्य भी था, सत्य होकर भी नाटक था और नाटक होकर भी सत्य था।"

"माँ ! आप क्या कहना चाहती हो, मैं कुछ समझा नहीं।"

"अब मैं तुमसे आप हो गई और बेटी से माँ।"

"हाँ, लग तो कुछ ऐसा ही रहा है। जब मैं आया था, तुम बेटी-सी ही लगी थीं। बीच में जो कुछ घटा, उसमें रमणी प्रतीत हुईं और अब साक्षात् जगदम्बा लग रही हो। यदि मैं स्वप्न नहीं देख रहा हूँ तो यह सब सत्य ही भासित हो रहा है।

वैसे तो हर नारी इन स्थितियों में से गुजरती ही है, पर उसमें कम से कम ६०-७० वर्ष लग जाते हैं, किन्तु यहाँ तीन-चार घड़ियों में ही यह सब-कुछ घट गया। बस आश्चर्य इस बात का ही है।

हाँ, तो जगदम्बे! सत्य भी, नाटक भी - यह कुछ समझ में नहीं आया।''

''नाटक तो इसलिए कि मैं तो नाटक ही कर रही थी, पर सत्य इसलिए कि मेरे पति को भी इस नाटक का पता नहीं था। उन्हें कुछ बताने का अवसर ही नहीं मिला था। आपके पाण्डित्य की परीक्षा के विकल्प में ही यह नाटक रचा था।''

''तो क्या आप नाटककार भी हैं, क्या आपने कोई नाटक भी लिखा है ?''

''नहीं तो''

''पर अभी आपने कहा था कि नाटक रचा।''

''हाँ, नाटक ही तो रचा और क्या किया ? नाटक रचने के लिए नाटक लिखने की क्या आवश्यकता है ? जो नाटक रचना नहीं जानते, लिखने के चक्कर में वे ही पड़ते हैं। कहीं नाटक लिखकर भी रचे जाते हैं ? यदि पति को बता देती तो वे नाटक खेल नहीं पाते, मात्र अभिनय करते। अभिनय में वास्तविकता थोड़े ही आ पाती है। अभिनय तो अभिनय ही है, उसमें सत्य कहाँ ?

आपको भी पता होता कि आप भी इस नाटक के अभिनेता हैं, दर्शक हैं, तो न तो आप ढंग से अभिनय ही कर पाते और न जिस रूप में इस नाटक को आपने अभी देखा है, उस रूप में देख ही पाते। बस इसे आप हास्यनाटिका ही समझते। इसमें जैसा नवरसों का परिपाक अभी हुआ है, वैसा तब न होता। नाटक तो तबतक ही नाटक है, जबतक उसे दुनिया सत्य समझे; नाटक को नाटक समझ लेने पर नाटक का सब मजा ही किरकिरा हो जाता है।

मैं अभिनेत्री हूँ, पर दूसरों के लिखे नाटकों को खेलनेवाली नहीं। मैं अभिनेत्री हूँ; पर बिकाऊ नहीं, दूसरों के लिए खेलनेवाली नहीं। मैं तो जो भी नाटक खेलती हूँ, स्वान्तःसुखाय ही खेलती हूँ।''

''हे भगवती ! आज मेरी समझ में बहुत-कुछ आ रहा है।''

''अच्छा, तो बताओ क्या आया तुम्हारी समझ में ?''

''यही कि आज तक जो मैंने समझा है, उसमें कुछ दम नहीं है।''

"ठीक समझे हो तुम। बस, मैं आज आपको यही पाठ पढ़ाना चाहती थी। पण्डित न सही, पर छात्र तो समझदार निकले ही।"

"अब तो आप से दीक्षित होना चाहता हूँ।"

"दीक्षित होना चाहते हो तो दीक्षान्त भाषण भी ध्यान से सुनो।

सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में पोथियों का भी अपना स्थान है, उनकी भी उपयोगिता है; पर वे ही सब-कुछ नहीं हैं। हम शास्त्रों का अध्ययन करें ही नहीं - मैं यह नहीं कहना चाहती, पर यह बात अवश्य कहना चाहती हूँ कि सम्पूर्णत: उन पर ही निर्भर हो जाना उचित नहीं है। हमें अपने ज्ञान को वस्तुनिष्ठ बनाना चाहिए। किसी भी वस्तु के बारे में अन्तिम निर्णय पर पहुँचने से पहले पोथियों में उसके बारे में क्या लिखा है - यह जानने के साथ-साथ उस वस्तु का अवलोकन भी आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है; अन्यथा हमें तत्सम्बन्धी सत्य का साक्षात्कार नहीं होगा।

आत्मा के सम्बन्ध में तो यह बात और भी अधिक महत्त्व रखती है। उसे जानने के लिए तो हमें निम्नांकित चार सोपानों से गुजरना होगा :

आत्मस्वरूप के प्रतिपादक शास्त्रों का अध्ययन, आत्मज्ञानी गुरुओं से उनके मर्म का श्रवण, विविध युक्तियों द्वारा समुचित परीक्षण एवं आत्मावलोकन अर्थात् आत्मानुभवन । - इन चारों में आत्मानुभवन का सर्वाधिक महत्त्व है, उसके बिना शेष सब निरर्थक ही समझिये।

इसीलिए तो मैं कहती हूँ लिखने से पहले लखना, देखना, अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है।"

"बहुत ठीक, बहुत ठीक।"

"ठीक है तो उठिए, स्नानादिक से निवृत्त होइये, भोजन कीजिए और अपना रास्ता लीजिये।"

"नहीं, नहीं; अभी तो मुझे आपसे बहुत-कुछ सीखना है।"

"नहीं, यह कुछ नहीं हो सकता। समझदार को संकेत ही पर्याप्त होता है। मुझे कोई विद्यालय नहीं चलाना है, अपनी गृहस्थी चलानी है।"

(११)

पण्डितराज जब अपने काफिले में पहुँचे तो उनके साथी पूछने लगे - "क्या मिला महाराज ?"

उन्होंने बहुत संक्षिप्त-सा उत्तर दिया -

"बहुत-कुछ; बहुत-कुछ नहीं, सब-कुछ।" ●

धर्म परिभाषा नहीं, प्रयोग है।

अतः सुखाभिलाषी को, आत्मार्थी को, मुमुक्षु को अपने को पहिचानना चाहिए, अपने में जम जाना चाहिए, रम जाना चाहिए। सुख पाने के लिए अन्यत्र भटकना आवश्यक नहीं। अपना सुख अपने में है, पर में नहीं, परमेश्वर में भी नहीं; अतः सुखार्थी का परमेश्वर की ओर भी किसी आशा-आकांक्षा से झाँकना निरर्थक है।

तेरा प्रभु तू स्वयं है। तू स्वयं ही अनन्त सुख का भण्डार है, सुखस्वरूप है, सुख ही है। सुख को क्या चाहना? चाह ही दुःख है। पंचेन्द्रिय के विषयों में सुख है ही नहीं। चक्रवर्ती की संपदा पाकर भी यह जीव सुखी नहीं हो पाया। ज्ञानी जीवों की दृष्टि में चक्रवर्ती की सम्पत्ति कोई कीमत नहीं हैं, वे उसे जीर्ण तृण के समान त्याग देते हैं और अन्तर में समा जाते हैं।

अन्तर में जो अनन्त आनन्दमय महिमावन्त पदार्थ विद्यमान है, उसके सामने बाह्य विभूति की कोई महिमा नहीं।

धर्म परिभाषा नहीं, प्रयोग है। अतः आत्मार्थी को धर्म के शब्दों में रटने के बजाय जीवन में उतारना चाहिए, धर्ममय हो जाना चाहिए।

- तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ५२

१०

असन्तोष की जड़

(१)

प्रिय सखी शान्ता,

तुम्हारा पत्र मिला। तुम लिखती हो कि उन्हें मना क्यों नहीं लिया ? पर तुम नहीं समझतीं, मैं भी नहीं समझती थी कि देवता मनाने से नहीं मनते। जो मनाने से मन जायें, वे देवता नहीं।

ये कमजोरियाँ तो सामान्यजनों की है कि जरा-सा हास्य या दो आँसू उन्हें कर्त्तव्य से च्युत कर सकते हैं। पर जो इस कमजोरी से मुक्त हैं, वही तो देवता हैं। उन्हें मनुष्यों के समान जल्दी उफान नहीं आता। उनका प्रत्येक कदम बहुत सोच-समझकर उठता है; पर जो कदम उठ जाता है, वह पीछे नहीं हटता। विचार उनके लिए खिलौना नहीं, जीवन है; उनके कदम घूमने के लिए नहीं, आगे बढ़ने के लिए उठते हैं।

यद्यपि उनके कदम देर से उठते हैं, पर सोच-समझकर उठते हैं और लक्ष्य की ओर दृढ़ता से बढ़ते हैं।

उस दिन कुएं के घाट पर जो हुआ, वह मुझे स्पष्ट याद है। शायद तुम कल्पना करती हो कि वही सब-कुछ हुआ होगा, जो श्रीकृष्ण के गगरी फोड़ देने पर पनघट पर होता था; पर नहीं, वह तो देवता की किशोरावस्था का उच्छृंखल रूप था; यहाँ तो वे धीर-गंभीर मर्यादापुरुषोत्तम जैसे स्वरूप में उपस्थित थे।

बात यों हुई। अष्टमी की रात थी। चाँद अभी उग ही रहा था। सर्वत्र सन्नाटा था। कभी-कभी पुलिसवाले की सीटी की आवाज अवश्य सुनाई दे जाती थी।

या फिर एकाध बार कुत्ता भी अपनी जागृत अवस्था का परिचय दे जाता था। बीच-बीच में पड़ौसी बुड्ढ़े की खाँसी रात्रि की निस्तब्धता भंग कर देती थी; किन्तु पड़ौसिन की घर्राहट तो सन्नाटे में मिली हुई सी ही महसूस होती थी।

सारा धरातल निस्तब्ध शान्त था, पर मेरे हृदय में तूफान उठ रहा था। मैं सोच रही थी कि बहुत हो चुका, अब आज मुझे अन्तिम निर्णय करना ही है। इस तरह तो इतनी लम्बी जिन्दगी बिताई नहीं जा सकती। जब मुझे कोई चाहता ही नहीं तो फिर····। कोई मुझ से सीधे मुँह बात भी तो नहीं करता, बरदाश्त करने की भी कोई हद होती है।

पर करूँ तो करूँ क्या ? कोई रास्ता भी तो नहीं सूझता। इस सड़ी जिन्दगी से बचने का उपाय एक मौत ही है, पर यदि जिन्दगी दुश्वार है तो मौत भी तो आसान नहीं।

आज मुझे दो में से एक को चुनना ही है - यह सड़ी जिन्दगी या फिर मौत।·····

बस फिर क्या था ? मेरी आँखों के सामने जिन्दगी और मौत नाचने लगी। मेरे दिमाग में बस यही विचार तेजी से घूम रहे थे - जिन्दगी या मौत···· मौत या जिन्दगी·····।

अन्त में मैं चुपचाप उठकर चल दी। मैं पुलिसवाले की निगाह बचाते हुए आगे बढ़ ही रही थी कि कुत्ते की अर्द्धनिद्रावस्था को धोखा न दे पाई। भौं-भौं की आवाज करके जगत को जागृत करने का कर्त्तव्य उसने बखूबी निभाया; पर किसे पड़ी थी, जो उसकी चेतावनी पर ध्यान देता ? एक तो किसी ने सुना ही नहीं होगा; यदि किसी के कान में उसकी आवाज पड़ी भी होगी तो उसने यह कहकर करवट बदल ली होगी कि इन कुत्तों के मारे भी नाक में दम है, सोना भी दूभर हो गया है।

मैं तेजी से बढ़ी जा रही थी और अब कुए के घाट पर थी; ऊपर को देखती हुई हाथ जोड़कर कह रही थी -

"हे भगवान् ! मैं..... आ..... आज..... तुम्हारी..... साक्षी....."

मैं अपनी बात पूरी कर भी न पाई थी कि पीछे से आवाज आयी -

"भगवान के नाम पर मरनेवाली ! जरा ठहरो। भगवान क्या कहता है - तुमने कभी यह भी सोचा है ?"

मैंने मुड़कर देखा और आश्चर्यचकित रह गई। वह परछाई कह रही थी -

"घबराओं नहीं, मैं तुम्हें कुए में गिरने से बचाने नहीं आया, किन्तु भवकूप में गिरने से बचाने के लिए आया हूँ। मेरे लिए तो तुम कुए में गिर ही चुकी हो, पर मैं तुम्हारे इस अनमोल मानव-जीवन को व्यर्थ ही नहीं जाने देना चाहता।

इस तरह मरकर तुम्हें शान्ति प्राप्त न होगी, अपितु नरकादि के अनन्त दु:ख भोगने होंगे। सुखशान्ति प्राप्त करने का वास्तविक उपाय यह नहीं है, यह तो पलायन है। **महासती सीता को आदर्श माननेवाली भारतीय ललनाओं को यह याद रखना चाहिए कि अपने ही लोगों के असद्व्यवहार से विरक्त सीता ने आत्महत्या का मार्ग न चुनकर आत्मसाधना का रास्ता अपनाया था।**"

यह सुनना था कि मेरी चिन्तनधारा ही बदल गई। गद्‌गद हो ज्यों ही मैं उनके चरणों की ओर बढ़ी कि वे एकदम पीछे हट गये। बहुत दूर हटकर वे कह रहे थे -

"तुम मेरे लिए मर चुकी हो और मैं तुम्हारे लिए। मैं भी इस झंझट से विरक्त ही था, पर सब सहज चल रहा था सो चल रहा था, आज तुमने मुझसे मुक्त होने की पहलकर मुझे भी सहज ही मुक्त कर दिया है। इतने दिनों के सम्बन्ध के रागवश तुम्हें भी वही मार्ग सुझाने आया हूँ, जो मैंने चुना है। वैसे अब तुम स्वतंत्र हो; जो चाहो, वही मार्ग चुन सकती हो।"

अरी बहिन ! तुझे क्या लिखूं ? कितना लिखूं ? मैंने उन्हें कितना मनाया — यह मैं ही जानती हूँ, पर उन पर तो कोई असर ही नहीं हुआ। वे तो जैसे पत्थर हो गये थे। मैंने बार-बार कहा -

"एकबार क्षमा कर दो, अब ऐसी गलती कभी न होगी। अब घर चलो, आनन्द से रहेंगे, प्रेम से रहेंगे।"

पर वे शान्तभाव से कह रहे थे - "आनन्द ! आनन्द !! उसे तुम अब भी आनन्द कहती हो, जिससे त्रस्त होकर तुम कुए में गिरने आई थीं, जिससे छूटने के लिए तुम मछली जैसी छटपटा रही थीं।

जरा विचार तो करो, जिस दरवाजे से हम निकल आये; अब उसमें दुबारा प्रवेश कैसे कर सकते हैं ? अब वह जीवन असम्भव है, असम्भव।"

अब मेरी हालत देखने लायक थी। डरते-डरते अस्फुट शब्दों में मैंने कहा -

"नाथ! एकबार आप ही ने तो कहा था कि तुम्हारे शरीर पर मेरा अधिकार है और मेरे पर तुम्हारा।"

"कहा होगा, मैंने तो बहुत बार बहुत-बहुत कहा, पर तुमने उस पर कब ध्यान दिया ? इस समझौते को भंग करने में भी तो तुमने ही पहल की। जब तुम अपने शरीर पर मेरा अधिकार मानती थीं तो उसे इस तरह नष्ट करने का

तुम्हें क्या अधिकार था ? बताओ····· बताओ। चुप क्यों हो? ···· है कोई उत्तर तुम्हारे पास ?''

हताश हो अन्त में जब मेरे मुँह से निकला -

''क्या अब यह गृहस्थ जीवन आप कतई पसन्द न करेंगे?''

''नहीं, बिल्कुल नहीं; **ऐसे नासमझ साथी के साथ तो कतई नहीं; जो देवी न सही, पर सही अर्थों में मानवी भी न हो, एकदम पशुता पर उतर आये; जिसे दूसरे की न सही, अपने जीवन की भी परवाह न हो, नरक-निगोद का भी भय न हो।**''

''हाँ मेरे नाथ! अंधकार से निकाला तो क्या अब प्रकाश न दिखाओगे ?''

आगे मैं कुछ न कह सकी, और सुना भी मात्र इतना ही -

''अब मैं चला।''

जब मुझे चेत आया तो सोच रही थी कि जो देवता मेरे इतने निकट रहा, उससे मैं कुछ न पा सकी; दुनिया जिसे सर्वयोग्य, सन्मार्गदर्शक मानती रही; उसे मैं अपने लायक भी न समझ सकी। दुनिया जिनके चरणों की छाया में रहना चाहती है, मैं उन्हें पाकर भी छोड़ने को तत्पर हो गई; हो क्या गई, मैंने उन्हें छोड़ ही तो दिया।

री बहिन ! वे बातें मुझे आज बार-बार याद आती हैं, जब वे कहा करते थे कि **आदमी चाहे जितना बड़ा हो जावे, देवता भी क्यों न हो जावे, दुनिया उसके चरण चूमे; पर पत्नी को उसमें कुछ न कुछ कमी नजर आती ही रहती है। सच्चे दिल से वह उसे अपने योग्य स्वीकार नहीं कर पाती। वह अपनी कल्पना में पति की एक ऐसी काल्पनिक मूर्ति गढ़ लेती है कि जिसकी कसौटी पर आज तक कोई पति खरा नहीं उतर पाया।**

उसकी यह असंभव कल्पना ही असन्तोष की जड़ है।

री बहिन! **मैं अभी तक समझती थी कि सद्बुद्धि जब आ जावे, तभी अच्छी; पर वह सद्बुद्धि भी किस काम की, जो समय रहते न आवे;** क्योंकि 'फिर पछताये होय क्या, जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत'।

हाय! जब वे थे, तब सद्बुद्धि न थी और अब जब सद्बुद्धि आई, तब·····।

अस्तु, जो हुआ सो हुआ; अब पछताने से होगा भी क्या ?

समय-समय पर पत्र अवश्य दे दिया करो।

तुम्हारी

करुणा

(२)

प्रिय सखी शान्ता,

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारे अनुरोध पर मैंने जो अपनी कहानी तुम्हें लिख भेजी थी, उसे तुम दु:खी बहिनों के हितार्थ प्रकाशित कराना चाहती हो; सो मेरी इच्छा तो न थी कि मैं अपनी बात दूसरों से कहूँ; पर जब तुमसे कह ही दी तो अब यदि उसे पढ़कर कुछ समझदार बहिनें समय रहते सँभल जायें, तो मैं अपने को धन्य समझूँगी।

मैं अनुमति देती हूँ कि तुम इसे किसी भी लोकप्रिय पत्रिका में प्रकाशित करा सकती हो।

तुम्हारी वही

करुणा

धर्म का क्षेत्र ऐसा खुला है कि ····

मैं एक बात पूछता हूँ कि यदि आपको पेट का ऑपरेशन कराना हो तो क्या बिना जाने चाहे जिससे करा लेंगे ? डॉक्टर के बारे में पूरी-पूरी तपास करते हैं। डॉक्टर भी जिस काम में माहिर न हो, वह काम करने को सहज तैयार नहीं होता। डॉक्टर और ऑपरेशन की बात तो दूर; यदि हम कुर्त्ता भी सिलाना चाहते हैं तो होशियार दर्जी तलाशते हैं और दर्जी भी यदि कुर्त्ता सीना नहीं जानता हो तो सीने से इन्कार कर देता है; परन्तु धर्म का क्षेत्र ऐसा खुला है कि चाहे जो बिना जाने-समझे उपदेश देने को तैयार हो जाता है और उसे सुननेवाले भी मिल ही जाते हैं।

- धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ ११४

११

एक केतली गर्म पानी

(१)

ब्रह्ममुहूर्त की महिमा बड़े-बूढ़ों से भी सुनता आ रहा हूँ और पुस्तकों में भी पढ़ी है। कहते हैं यह दिन का सबसे बढ़िया समय होता है, जिसे हम सोते-सोते व्यर्थ ही गँवा देते हैं। यह हमारी अल्पनिद्रा का समय है। इस समय कोई भी गहरी नींद में नहीं होता। यह भी कहा जाता है कि ब्रह्ममुहूर्त में आये स्वप्न सच्चे होते हैं।

जो भी हो, पर आज मैंने इसी ब्रह्ममुहूर्त में एक स्वप्न देखा कि मेरा बचपन लौट आया है। मुझ में वही बचपना आ गया है, जो पचास वर्ष पूर्व था। यद्यपि आज मैं पचपन वर्ष का हूँ, बहुत दुनियाँ देख चुका हूँ; पर बचपन का जो दृश्य आज स्वप्न में देखा, वह बड़ा ही विचित्र है।

मैंने देखा कि मैं अपने ग्रामीण घर में हूँ। मेरी माँ हैं, पिता हैं, भाई हैं, बहिन है और वही ग्रामीण परिवेश है, जो मेरे बचपन में था।

अब तो ठोकरें खा-खाकर बहुत कुछ शान्त हो गया हूँ, पर बचपन में बहुत ही तेज तर्रार और क्रोधी प्रकृति का था। लोग तो आज भी कहते हैं कि मैं आज भी वैसा ही हूँ, पर अभी तो बात बचपन की चल रही है।

मैं उस समय अपनी हठ के लिए, जिद के लिए बहुत कुछ बदनाम हो चुका था। मेरी इमेज एक जिद्दी बालक की बन चुकी थी और सारा ही परिवेश मेरे इस स्वभाव को बदलने के लिए कृतसंकल्प था। मेरी हर बात को जिद मान लिया जाता था और सभी उसके विरुद्ध मोर्चा जमा लेते थे।

मैं यह नहीं मानता कि वे सब मुझे प्यार नहीं करते थे, चाहते नहीं थे; चाहते थे, पर उन्हें इस बात की बड़ी चिन्ता थी कि यदि मेरा यह स्वभाव नहीं बदला तो मेरा जीवन बर्बाद हो जायेगा।

अत: सबने एक ही लक्ष्य बना लिया था कि जैसे भी हो मुझे सुधारना है और सभी लोग मिल-जुलकर इस महायज्ञ में प्राणपण से जुट गये थे।

(२)

प्रात:काल का समय था। लगभग आठ-नौ बज चुके होंगे। सर्दियाँ आरम्भ हो चुकी थीं और सभी लोग गर्म-पानी से नहाने लगे थे। सभी लोग नहा चुके थे और मैं भी नहाने के लिए एक केतली गर्म-पानी चाहता था। पर किसी का ध्यान इस ओर न था।

मैंने दो-चार बार अपनी माँग दुहराई, पर सभी अपने-अपने काम में व्यस्त थे; क्योंकि सब काम वाले थे न? जब धीमी आवाज से काम न चला तो मेरे स्वर में तेजी आ गई और मेरी जायज माँग जिद समझ ली गई और सभी का सुधार अभियान आरम्भ हो गया।

यद्यपि यह बात सत्य हो सकती है कि मैं उस समय नासमझ था; पर उतना नहीं, जितना कि लोग समझते थे। अपनी समझ से तो मैं काफी समझदार हो गया था, पर लोग मानें तब न!

मेरी एक मजबूरी थी कि मेरी मन्द आवाज कोई सुनता न था और तेज आवाज को जिद समझ लिया जाता था। बस फिर क्या था, सभी का सुधार-अभियान आरम्भ हो जाता।

अब यह बात एक दिन की न रह गई थी। लगभग रोज ही यह सब होने लगा था। हमारे परिवार के लिए इसने एक समस्या का रूप ले लिया था। था कुछ नहीं, पर ...।

हाँ, तो मुझे नहाने के लिए मात्र एक केतली गर्म पानी चाहिए था, जो कि सबको प्राप्त हो चुका था, पर मुझे नहीं मिल पा रहा था। उपदेश, आदेश,

धमकियाँ तो बराबर मिल रही थीं, पर पानी नहीं; क्योंकि सभी की दृष्टि में मुझे पानी की नहीं, सुधारने की आवश्यकता थी। सभी के पास मुझे उपदेश देने के लिए पर्याप्त समय था, पर पानी देने के लिए नहीं; क्योंकि सभी को अपने-अपने काम करने थे, सभी काम वाले थे न!

(३)

हारकर मैंने स्वयं पानी गर्म करने की ठानी। यद्यपि मैं पाँच वर्ष का ही था, पर यह बात नहीं कि मैं पानी गर्म नहीं कर सकता था। कर सकता था, अवश्य कर सकता था; पर किसी का थोड़ा-बहुत सहयोग मिल जाता तो। पर वहाँ तो असहयोग का ही नहीं, विरोध का वातावरण बन रहा था।

अब मुझे सचमुच ही जिद सवार होने लगी थी। मुझे भी लगा था कि मैं जिद कर रहा हूँ। अब मैंने एकला-चल की मुद्रा बना ली थी। अत: बिना किसी के सहयोग के ही घड़े से केतली में पानी डालने लगा तो सारा घड़ा ही औंधा हो गया। घड़ा फूट भी सकता था; पर गनीमत रही कि फूटा नहीं। फिर भी चारों ओर से चिल्लाहट आरम्भ हो गई, कोहराम मच गया।

(४)

मैं विजयी मुद्रा में खड़ा हो गया। यद्यपि मैं कुछ भी बोल नहीं रहा था, पर अपनी मौन मुद्रा से ही कह रहा था कि लो देख लो अपने असहयोग का परिणाम। थोड़ी-बहुत समझ हो तो अब भी समझ जावो, अन्यथा और भी खतरनाक परिणाम भुगतने पड़ सकते हैं; पर वहाँ कौन समझता मेरी चेतावनी को; क्योंकि सब बड़े हो गये थे न; अपने को समझदार समझने लगे थे न; नासमझ तो अकेला मैं ही था, जिसे सही रास्ते पर लाना सबका, सबसे बड़ा धर्म बन गया था।

एक ओर से आवाज आई-

"दे दो न एक केतली गर्म पानी उसे?"

लगता है किसी को या तो मुझ पर दया आ गई थी या फिर वह अधिक नुकसान की आशंका से आतंकित हो गया था? पर सभी ने एक स्वर से उसकी

बात का विरोध किया; क्योंकि उनका मानना था कि इस प्रकार जिद पूरी करने से बच्चे बिगड़ जाते हैं।

मुझे सचमुच एक केतली गर्म पानी की आवश्यकता है - यह सत्य किसी भी समझदार की समझ में नहीं आ रहा था; क्योंकि वे सब बहुत अधिक समझदार हो गये थे न!

अब मैं अभिमन्यु की भाँति अकेला ही युद्ध के मैदान में था। एक ओर मैं अकेला और दूसरी ओर सातों महारथियों के समान मुझे घेरे हुए पूरा परिवार।

यद्यपि सभी को अपने-अपने बहुत जरूरी काम थे, जिनकी वजह से मुझे कोई एक केतली पानी नहीं दे पाया था; पर अब तो आपातकाल आ गया था। अत: सभी काम स्थगित होना ही थे, सो हो गये; अब तो सबको एक मात्र काम मेरे इस आतंकवाद से निपटने का ही था; क्योंकि इससे अब सम्पूर्ण परिवार संकट में पड़ गया था।

मुझ जैसे हिटलर के रहते हुए घर में सुख-शान्ति कैसे रह सकती थी? कुछ भी हो, पर मुझ पर तो उन्हें काबू पाना ही था।

(५)

बीच में निहत्था मैं और चारों और पूरा परिवार। इसप्रकार मोर्चा जम रहा था। एक अभिमन्यु से सारे साम्राज्य को खतरा खड़ा हो गया था। अत: अब कोई न्याय-अन्याय का प्रश्न नहीं रह गया था। जैसे भी हो खतरा तो टालना ही था।

यद्यपि यह खतरा एक केतली गर्म-पानी से टल सकता था, पर इसमें सारे परिवार की इज्जत का सवाल था, सारे परिवार की प्रतिष्ठा दाव पर लग गई थी। मात्र बात इतनी ही नहीं थी, इससे बच्चे के बिगड़ जाने की भी पूरी-पूरी संभावना थी। बच्चे के नहीं रहने से परिवार का क्या बिगड़ता है, पर बिगड़े बच्चे से तो ...।

(६)

कुछ समय तक युद्धविराम की स्थिति रही; क्योंकि दोनों ही ओर यह गम्भीर मंथन चल रहा था कि स्थिति नाजुक है - इसमें क्या किया जा सकता है? शक्तिशाली महारथियों से घिरा मैं भी किंकर्तव्यविमूढ़ था। कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करूँ? परिस्थिति की गम्भीरता मेरी समझ में आ रही थी, पर मैं भी ...।

जबतक मुझ में थोड़ी-बहुत भी समझ शेष रही, तबतक मैं किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सका; क्योंकि मैं किसी पर आक्रमण करने की स्थिति में तो था नहीं, पानी का सवाल भी समाप्त ही हो गया था। समझौता वार्ता की सम्भावना भी क्षीण ही थी; क्योंकि कोई मध्यस्थ रहा ही नहीं था।

इज्जत के साथ आत्मसमर्पण करानेवाला कोई जयप्रकाश भी दिखाई नहीं दे रहा था। समझदारों की ओर से समझदारी की आशा करना तो रेत में से तेल निकालने जैसा था, सो मैंने सोचा - जब मरना ही है तो वीरता से ही क्यों न मरा जाय?

मेरी पकड़ में और कुछ तो था नहीं, तो मैंने आक्रोश व्यक्त करने के लिए औंधे पड़े खाली घड़े पर ही आक्रमण कर दिया और सभी महारथी एकदम मुझ पर टूट पड़े।

फिर क्या हुआ? यह कहना सम्भव नहीं हैं; क्योंकि इतने में मेरी आँख खुल गई। जब मैंने घड़ी देखी तो उसमें प्रात: के चार बज रहे थे, ब्रह्ममुहूर्त था।

(७)

इस विचित्र स्वप्न ने मेरे मन को मथ डाला। यद्यपि मैं जाग रहा था; पर मेरी स्थिति स्वप्न जैसी ही हो रही थी; क्योंकि मैं अपने को उसके प्रभाव से मुक्त नहीं कर पा रहा था।

कहते हैं कि ब्रह्ममुहूर्त में देखे स्वप्न सत्य होते हैं, पर इस स्वप्न में क्या सच्चाई हो सकती है? सोचते-सोचते मैं स्वप्न की गहराई में उतरने लगा।

अब मेरी समझ में यह नहीं आ रहा था कि मैं जाग रहा हूँ या स्वप्न ही देख रहा हूँ। मैं कुछ नहीं कह सकता कि मैं जाग रहा था या सो रहा था, सोच रहा था या स्वप्न देख रहा था। जो कुछ भी हो, इससे क्या अन्तर पड़ता है, पर जो मैं जान रहा था, वह यह है कि **स्वप्न के सत्य होने का अर्थ मात्र किसी घटना के सत्य होने से ही नहीं होता; अपितु इसमें किसी सत्य का उद्घाटन भी हो सकता है, उसमें हमें कोई मार्गदर्शन भी हो सकता है; पर जब हम उसके संकेतों को समझें, तभी उसकी सत्यता की प्रतीति हो सकती है।**

क्या इस स्वप्न में इस परम सत्य का उद्घाटन नहीं हो रहा है कि हम नासमझों को सुधारने के बहाने कितनी नासमझी कर रहे हैं?

क्या किसी की आवश्यक आवश्यकताओं की माँग को जिद कहा जा सकता है? क्या किसी की धीमी आवाज को सुनने की हमारी क्षमता समाप्त हो गई है? यदि वह अपनी उचित माँग को ऊँची आवाज में प्रस्तुत करता है तो क्या उसे विद्रोह की संज्ञा दी जा सकती है? यदि कोई अपना काम स्वयं कर लेना चाहता है, अपने पैरों पर खड़ा होना चाहता है तो क्या उसे सहयोग करने की आवश्यकता नहीं है?

क्या भूखी-नंगी-गूँगी जनता की आवाज सुनने की हमारी क्षमता समाप्त हो गई है? क्या हम उसकी धीमी पुकार सुनने में सर्वथा असमर्थ हो गये हैं, क्या हम उसकी पुकार को विद्रोह की संज्ञा को प्रदान नहीं कर रहे हैं?

आवश्यकता उसकी जायज माँगों को पूरी करने की है या उसे विद्रोह कह कर दबाने की है? क्या इसी तरह का व्यवहार हम अपने बच्चों के साथ भी तो नहीं कर रहे हैं?

ये कुछ प्रश्न हैं, जिनका उत्तर हमें देना है।

क्या परिवार और देश दोनों की स्थिति का सम्यक् निर्देश देने वाले इस स्वप्न की सत्यता से इन्कार किया जा सकता है? ●

अभिमत

लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं एवं विद्वानों की दृष्टि में प्रस्तुत प्रकाशन

*** आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज**

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा लिखित 'आप कुछ भी कहो' पुस्तक मैंने पूरी पढ़ी; बहुत सुन्दर है, इसमें कल्याणकारी मार्ग की ही बातें हैं। वे जीवनभर इसीप्रकार जिनवाणी की सेवा करते रहें - उन्हें हमारा यही मंगल आशीर्वाद है।

*** अध्यात्मयोगी मुनि श्री विजयसागरजी महाराज**

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल ने 'आप कुछ भी कहो' पुस्तक के द्वारा परम-सत्य को जन-जन तक पहुँचाने का सफल प्रयास किया है, जिससे मुमुक्षु जीव लाभान्वित होकर सन्मार्ग प्राप्त करेंगे। वे आगे भी कथाओं का सार निकालकर ऐसी पुस्तकें लिखकर प्रचार करते रहें — ऐसा हमारा आशीर्वाद है।

*** वयोवृद्धव्रती विद्वान ब्र. पंडित जगनमोहनलालजी शास्त्री, कटनी (म.प्र.)**

भाई हुकमचन्द भारिल्ल कलम के धनी हैं। उनकी कलम से प्रसूत ये कथाएँ सुबोध हैं; सदुपदेशक है तथा बच्चों व युवक-युवतियों के लिए धर्माचरण व नैतिकाचरण के लिए प्रेरक हैं। नई भाषा और नई विधि में किया गया प्रथमानुयोग संबंधी उनका यह प्रयत्न स्तुत्य है।

समाज को नई दिशा में मोड़ने का जो काम संस्थाओं के बड़े-बड़े प्रस्ताव और विद्वानों के लम्बे-चौड़े व्याख्यान नहीं कर सकते, वह काम प्रथमानुयोग सम्बन्धी इसप्रकार के प्रयास सहज ही कर सकते हैं।

डॉ. हुकमचन्दजी इस कार्य के लिए समर्थ विद्वान हैं। मुझे आशा है कि यदि वे इस कार्य को उठालें तो पूर्ण सफल होंगे।

*** पं. बाबूभाई मेहता; अध्यक्ष, श्री कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट**

डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित कहानियाँ पढ़ीं। प्रथमानुयोग के आधार पर लिखी गई इसप्रकार की धर्मकथाओं का अभाव ही था, जिनमें तत्वज्ञान भरा हो और जो प्रेरक हों। रचनात्मक वैराग्य-प्रेरणा देनेवाली इन सुबोध कथाओं से एक बड़े अभाव की पूर्ति होते देख मुझे अत्यधिक आनन्द हुआ है। मैं अनुभव करता हूँ कि डॉ. भारिल्ल ने प्रथमानुयोग की धर्मकथाओं के कर्ता आचार्यों के हृदय के रहस्य का उद्घाटन करने का महान कार्य किया है, जो स्तुत्य है। इसके लिए उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हुआ आशा करता हूँ कि वीतरागमार्गानुसार लिखी गई इन रचनाओं से सभी समाज पूरा-पूरा लाभ उठायेगी। मेरा विश्वास है कि बाल, युवा एवं वृद्ध सभी को इनके अध्ययन-मनन-चिन्तन से बड़ा भारी क्रान्तिकारी लाभ होगा।

*** ब्र. श्री यशपालजी जैन; एम.ए., सांगली (महाराष्ट्र)**

मैंने 'आप कुछ भी कहो' में संग्रहीत सभी कहानियों को बारीकी से अनेक बार पढ़ा। इन्हें पढ़कर जो सन्तोष और आनन्द हुआ, उसे मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता। जैनधर्म के प्राण वस्तु की स्वतन्त्रता एवं अध्यात्म का उर्ध्व रखते हुए चमत्कारिक अन्धश्रद्धा को जड़मूल से उखाड़ फेंकनेवाला आपका यह कथा-साहित्य तत्वरसिकों से अत्यन्त अभिनन्दनीय एवं उदीयमान लेखकों के लिए अनुकरणीय है। आपकी यह कृति जैन कथा-साहित्य में नया इतिहास निर्माण करने वाली विशेष कृति सिद्ध होगी।

यह मात्र हिन्दी पाठकों तक ही सीमित रहे — यह मुझे अक्षम्य अपराध प्रतीत होता है। इसका लाभ आत्मधर्म या किसी अन्य पत्रिकाओं के माध्यम से गुजराती, मराठी, कन्नड़ तथा तमिल भाषियों को भी प्राप्त होना चाहिए। इसके लिए सर्वप्रकार सक्रिय सहयोग देने के लिए मैं सोत्साह तैयार हूँ।

*** ब्र. हेमचन्दजी जैन 'हेम'; इंजीनियर, एच.ई.एल., भोपाल (म.प्र.)**

सुगम व सरल भाषा-शैली में तत्वार्थों को समझाने व लिखने की कला द्वारा डॉ. भारिल्लजी ने जैनाजैन समाज में आज अपना एक विशेष स्थान

बना लिया है। प्रथमानुयोग के आधार पर निर्मित इस कृति के निर्माण में उन्होंने जो परिश्रम किया है; वह स्तुत्य है, अभिनन्दनीय है।

इन कथाओं को पढ़कर विशेषकर 'परिवर्तन' कहानी को पढ़कर जो व्यक्ति अपने भीतर परिवर्तन लाने का उद्यम करेगा; वह निहाल हो जावेगा - ऐसा मेरा विश्वास है।

*** श्री अक्षयकुमारजी जैन; भूतपूर्व संपादक, नवभारत टाइम्स, दिल्ली**

'आप कुछ भी कहो' पुस्तक पढ़कर अत्यन्त आनन्द हुआ। आधुनिक परिवेश में प्राचीन वाङ्मय को इसप्रकार उतारा गया है कि चमत्कार ही हो गया है। मेरी बधाई स्वीकार कीजिए।

*** श्री चण्डीप्रसादजी शर्मा; प्राचार्य, महाराजा संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर**

प्रस्तुत पुस्तक में सर्वत्र लघु कथाओं के ब्याज से भारतीय संस्कृति को प्रसारित करने का प्रयास किया गया है। इसप्रकार का सृजन न केवल बौद्धिक विकास में ही सहयोग करता है, अपितु राष्ट्रीय एकता करने में भी महती भूमिका अदा कर सकता है। 'तिरिया-चरित्तर' में पण्डितराज तथा पनिहारिन का संवाद न केवल रोचक अपितु अपरिग्रह तथा सहिष्णुता का भी द्योतक है। इसप्रकार के सृजन को प्रोत्साहन देने के लिए इसप्रकार की पुस्तकें पाठ्यक्रम में रखी जानी चाहिए।

अनेक पुस्तकों का निर्माण कर राष्ट्र व समाज की सेवा में रत आप जैसे जैन दर्शन के ख्याति प्राप्त विद्वान एवं महान व्यक्ति से अनुरोध करता हूँ कि अष्टसहस्री जैसे जटिलतम महान ग्रन्थ को भी अपनी लेखनी से अलंकृत करें, जिससे वह भी युगानुसारी होकर अधिक उपयोगी बन सके।

*** डॉ. शीतलचन्द्रजी; प्राचार्य, श्री दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर**

'आप कुछ भी कहो' कहानी संकलन में डॉ. भारिल्ल ने सरल, सुबोध शैली में आध्यात्मिक तथ्य समाविष्ट कर जैन पौराणिक सन्दर्भ अनावृत किया है। 'परिवर्तन' कहानी पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी के भी जीवन-

परिवर्तन की स्मृति तरोताजा कर देती है। 'अभागा भरत' कहानी कौतुहल पैदा करती है कि चक्रवर्ती अभागा कैसे ? डॉ. भारिल्ल की सभी कहानियाँ निष्कर्ष की उत्सुकता और रोचकता बनाये रखती हैं।

कहानी के क्षेत्र में उनका यह अभिनव प्रयास अत्यन्त सराहनीय है।

*** प्रोफेसर रतनलालजी दाधीच; महाराजा संस्कृत कॉलेज, जयपुर (राज.)**

कहानियों के माध्यम से डॉ. भारिल्ल ने जैन संस्कृति के गहन तत्वों को जन-साधारण तक सहजरूप से पहुँचाने का प्रशंसनीय कार्य किया है। इस अनुकरणीय प्रयास का कथाशिल्प सुन्दर एवं अभिव्यक्ति सरस है, जो पाठक को चिरकाल तक प्रभावित किए रह सकती है।

*** महामहिमोपाध्याय पं. नरेन्द्रकुमारजी शास्त्री; न्यायतीर्थ, सोलापुर (महा.)**

'आप कुछ भी कहो' साद्यन्त पढ़ी। डॉ. भारिल्ल की वाणी जैसी मधुर व चित्ताकर्षक है; उसीप्रकार उनका लेखन भी हृदयस्पर्शी होता है। वे सिद्धान्त-प्रतिपादन के साथ कथालेखन में भी सिद्धहस्त हैं। ग्रन्थ में समागत सूक्तियाँ अत्यन्त बोधपूर्ण हैं। इसप्रकार के लेखन युवा लोगों को अत्यन्त लाभदायक रहेंगे।

*** पण्डित श्री रतनलालजी कटारिया; केकड़ी (राजस्थान)**

स्वच्छ छपाई, सुन्दर प्लास्टिक कवर, उत्तम कागज, मजबूत जिल्द, कलात्मक स्वरूप और इन सबसे बढ़कर बेमिसाल, लाजवाब प्रमेय, फिर भी मूल्य अत्यल्प — इतनी विशेषता अन्यत्र के किसी भी प्रकाशन में देखने में नहीं आई। कथा (घटना) थोड़ी विश्लेषण विशाल, फिर भी सभी कहानियाँ सुपरफाइन लगीं। 'तिरिया-चरित्तर' तो बहुत ही पसन्द आई, वह मुझे सुपरफाइन के साथ-साथ मसराइज्ड भी लगी। केलिको, फिनले कम्पनी के उच्चकोटि के पोतवाले कपड़ों की बनावट की तरह इसका शब्द-गुम्फन भी बड़ा ही दिव्य और अत्यन्त मनमोहक बन पड़ा है।

*** पं. अमृतलालजी न्यायतीर्थ; साहित्याचार्य, ब्राह्मी विद्यापीठ, लाडनूं (राज.)**

प्रतिभाशाली सिद्धहस्त लेखक डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल की नयनाभिराम हृदयावर्जक अभिनय कृति 'आप कुछ भी कहो' को आद्योपांत पढ़कर असीम प्रसन्नता का अनुभव हुआ। आध्यात्मिक तथ्यों को रोचक कहानियों के माध्यम से प्रस्तुत करनेवाली यह कृति अपने ढंग की एक ही है। इसके लिए लेखक बधाई के पात्र हैं। परिष्कृत प्रांजल हिन्दी, आकर्षक लेखनशैली, कागज, छपाई-सफाई, प्रूफ-संशोधन एवं गेटअप आदि सभी उत्तम हैं।

आशा है डॉ. भारिल्लजी की यह अनूठी कृति सभी वर्गों के पाठकों के द्वारा पढ़ी जायेगी और विद्वत्संसार में यत्र-तत्र-सर्वत्र समादृत होगी।

*** डॉ. देवेन्द्रकुमारजी शास्त्री; व्याख्याता, शा. महाविद्यालय, नीमच (म.प्र.)**

हास्य-व्यंग्य की शैली में लेखक ने विचित्र शीर्षकों में तत्वज्ञान की बातों को सरल ढंग से प्रस्तुत करने का अभिनव प्रयोग किया है। 'तिरिया-चरित्तर' एक ऐसी ही प्रतिनिधि कथा है, जो कल्पना में भी यथार्थ है और यथार्थ में भी कल्पना से अनुस्यूत है। आशा है पाठक इस रचना से अवश्य ही लाभान्वित होंगे।

*** डॉ. प्रेमचन्दजी रांवका, जैनदर्शनाचार्य; महाविद्यालय, मनोहरपुर (राज.)**

अविवेक पर विवेक, अन्धश्रद्धा पर सम्यक्त्व, अहं पर विनय, असत्य पर सत्य, राग पर विराग, कोरे ज्ञान पर सम्यग्ज्ञान की आवश्यकता का प्रतिपादन करनेवाला यह कथाग्रन्थ जीवन-व्यवहार के लिए भी सम्यक् मार्गदर्शन प्रदान करता है। यह कृति कथातत्व के माध्यम से जैन-अजैन सभी पाठकों को अध्यात्मरस का पान कराती है ।

*** डॉ. पारसमलजी अग्रवाल; विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म.प्र.)**

प्रथम कहानी 'आप कुछ भी कहो' पढ़कर ऐसा लगा कि सात पृष्ठों में समयसार के कर्ताकर्म एवं बंध अधिकार का मर्म प्रस्तुत कर दिया है।

'जागृत विवेक' में जिस समस्या को छुआ गया है, वह अपने आप में एक बहादुरी का काम है। सुन्दर शब्द चयन और उपयुक्त कथानक द्वारा वह सब कुछ कह दिया गया है, जिसे कहने का साहस पुरुष नहीं जुटा पाते। 'अभागा भरत', 'उच्छिष्ट भोजी' एवं 'तिरिया-चरित्तर' भी बहुत सन्दर लगीं।

*** डॉ. राजारामजी जैन; एच.डी. जैन कॉलेज, आरा (बिहार)**

एक ही साँस में सारी पुस्तक पढ़ गया। कहानियों के माध्यम से जैनधर्म के मूल तत्वों को हृदयस्पर्शी बनाकर आपने शिक्षित, अर्धशिक्षित अथवा अल्पशिक्षित आबाल-वृद्ध नर-नारियों का महदुपकार किया है। नैतिक जागरण के लिए ऐसे ग्रन्थों की ही आवश्यकता है। आपके इस नवीन सफल प्रयोग के लिए हार्दिक बधाई।

*** डॉ. गोपीचन्दजी 'अमर'; शोध-अधिकारी — भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली**

'आप कुछ भी कहो', लेकिन डॉ. भारिल्ल केवल आध्यात्मिक बात कहेंगे। वे तो वे, उनका समूचा परिवार अध्यात्ममय है। इसलिए इस संकलन की उनकी दसों कहानियों का कथानक तो मात्र बहाना ही है, मूल प्रतिपाद्य तो अध्यात्म ही है।

*** डॉ. ए. के. राय; प्रो. दर्शनविभाग, महाराज कॉलेज, छतरपुर (म.प्र.)**

मैंने निष्ठापूर्वक पढ़ा। संकलन की समस्त कहानियाँ सरल, सुबोध एवं सुरुचिपूर्ण हैं। मिश्रित भाषा के प्रयोग एवं समुचित शब्दों के चयन से संकलन की शैली बोधगम्य तथा तर्कसंगत बन पाई है। कहानियों के माध्यम से तत्वज्ञान को जन सामान्य तक पहुँचाने का यह प्रयास प्रशंसनीय है। अंधविश्वास की जड़ों पर प्रहार और अपने क्रांतिकारी विचार से डॉ. भारिल्ल आधुनिक परिवेश में पले समाज की सोच को सही दिशा में ले जाने के लिए पूर्णतया तत्पर प्रतीत होते हैं।

*** डॉ. भागचन्दजी 'भास्कर'; जैन अनुशीलन केन्द्र, रा. विश्वविद्यालय, जयपुर**

इस कृति में पौराणिक जैन कथाओं को जो सरस और सरल अभिव्यक्ति दी गई है, वह वस्तुतः प्रशंसनीय है।

*** डॉ. प्रेमचन्दजी जैन; जैन अनुशीलन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर**

उपदेश की अपेक्षा कथा-कहानी के माध्यम से कही हुई बात ज्यादा असर करती है और यदि वे कहानियाँ छोटी-छोटी संक्षिप्त व सरस हों, सरल भाषा और रोचक शैली में हों तो उनका क्या कहना? डॉ. भारिल्ल कृत 'आप कुछ भी कहो' की कहानियाँ भी कुछ ऐसी ही हैं। वे अध्यात्म से सिक्त तथा सन्मार्ग की प्रेरक हैं। डॉ. भारिल्ल का व्यक्तित्व बहुरंगी हैं। लेखक हैं, वे वक्ता हैं। प्रेरक एवं प्रणेता हैं··· बहुश्रुत हैं। उनका धार्मिक अभ्यास विशाल एवं गहरा है। उनका यह नवीन प्रयोग सराहनीय है।

*** विद्यावारिधि डॉ. महेन्द्रसागरजी प्रचंडिया; अलीगढ़ (उ.प्र.)**

यह कृति भली-भाँति कलात्मक शैली में उपन्यस्त की गई है। आगम के वातायन से ऐसे ललित, किन्तु उपयोगी प्रकाशन व्याप्त संताप को शान्त करने में भारी सहकारी भूमिका निर्वाह करेंगे - ऐसी मेरी मान्यता है। साधारण मूल्य में अमूल्य सामग्री जुटाई गई है। आपने बहुत भलाई की है।

*** डॉ. चन्दूभाई टी. कामदार; राजकोट (गुजरात)**

'आप कुछ भी कहो' आद्योपान्त पढ़ी। जिसप्रकार डॉक्टर मरीज को कड़वी दवा सीधी न देकर सुगरकोटेड करके देते हैं; उसीतरह डॉ. भारिल्ल ने भी भवरोग मिटाने के लिए जैन सिद्धान्तों के रहस्यों को इन ऐतिहासिक कहानियों के माध्यम से सुगरकोटेड करके भवरोग से पीड़ित लोगों तक पहुँचाया है। सभी का भवरोग मिट जाय - ऐसी भावना भाता हूँ।

*** डॉ. कस्तूरचन्दजी 'सुमन'; जैन विद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी (राज.)**

आरम्भिक पाँच कहानियाँ पैराणिक सामग्री पर आधारित हैं। इन कहानियों के माध्यम से जैन संस्कृति एवं इतिहास को जन-जन तक

पहुँचाने का लेखक का प्रयास सराहनीय है। पाप-पुण्य, आत्मा, साधुता जैसे कठिन विषय भी रोचक शैली में समझाये गए हैं। शेष कहानियाँ भी सन्मार्ग की प्रेरक हैं। सरल, सरस भाषा का उपयोग कहानियों की अपनी एक विशेषता है।

इस हृदयग्राही पठनीय सामग्री के लिए लेखक साधुवाद के पात्र हैं।

*** डॉ. वृद्धिचन्द्रजी जैन; जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी (राज.)**

डॉ. भारिल्ल द्वारा लिखित कहानियाँ पढ़कर अतीव प्रसन्नता हुई। सरस एवं मर्मस्पर्शी कथाओं के माध्यम से जन-साधारण को आत्मधर्म, स्वरूपश्रद्धान, भेदविज्ञान, कर्तृत्वखण्डन आदि का आभास प्रदान कराने का लेखक का प्रयास सराहनीय है। लेखक सिद्धहस्त कथाकार एवं मौलिक निबन्धकार हैं — यह तो सर्वविदित ही है।

ऐसे उत्कृष्ट जनरुचि के प्रकाशनों के लिए कोटिशः साधुवाद।

*** श्री राजकुमारजी आयुर्वेदाचार्य; संपादक — अहिंसावाणी, निवाई (राज.)**

पौराणिक सामग्री पर आधारित कथा-कहानियों के माध्यम से जैन इतिहास जन-जन तक पहुँचाने का यह नवीन प्रयास सराहनीय है। इसमें प्रथमानुयोग की कथाओं को सरल, सुबोध आधुनिक शैली में लिखा गया है। इन कथाओं में आगमिक मर्यादाओं का पूरा ध्यान रखा गया है।

इसकी सम्पूर्ण सामग्री मननीय है एवं मुद्रण आकर्षक नयनाभिराम है।

*** पं. भरत चक्रवर्तीजी न्यायतीर्थ; निदेशक — जैन साहित्य शोध संस्थान, मद्रास**

प्रथमानुयोग का नया दृष्टिकोण प्रदान करने वाली ये कहानियाँ अतिशयोक्ति पूर्ण अवांछनीय वर्णनों से आवृत उपादेय तथ्यों को मुख्यरूप से उजागर करती हैं। वादिराज एवं श्रेष्ठिवर के संवाद में सच्चे दिगम्बर साधु का अंतरंग उजागर हुआ है। इसके माध्यम से लुप्तप्रायः साधुत्व के स्वरूप को स्पष्ट कर सुप्त समाज को जागृत करने का जो उपक्रम किया गया है, वह अत्यन्त सराहनीय है।

पुण्योदय से प्राप्त संयोगों के उपभोग में ज्ञानी और अज्ञानी में क्या अन्तर होता है ? — इसका मूर्त रूप 'अभागा भरत' और 'उच्छिष्ट भोजी' कहानियाँ हैं। इसीप्रकार परमसत्य की प्राप्ति होने पर विषम परिस्थितियों में पुरुषार्थ की उग्रता का स्वरूप 'परिवर्तन' कहानी में स्पष्ट हुआ है।

मेरी कामना है कि डॉ. भारिल्ल की सर्वतोमुखी प्रतिभा दिनों-दिन वृद्धिंगत होकर समाज को निरन्तर नया मार्गदर्शन करती रहे।

*** पण्डित श्री धर्मप्रकाशजी जैन शास्त्री; अवागढ़ (एटा, उ.प्र.)**

'कथानुयोग भी द्रव्यानुयोग, करणानुयोग एवं चरणानुयोग का पोषक होना चाहिए और होती भी है।' — लेखक के उक्त वक्तव्य से मैं अत्यधिक प्रभावित हुआ हूँ। यह कथन लेखक की वास्तविकता का परिचायक है। इसी सत्य की कसौटी पर प्रस्तुत कहानी संग्रह अत्यन्त खरा उतरा है।

इस पुस्तक के पठन-पाठन से सत्यानुभूति की झलक स्वयमेव विकसित होती है। इस कहानी संग्रह का अधिक से अधिक प्रचार व प्रसार होना चाहिए। इसप्रकार के उत्तम प्रयास के लिए लेखक धन्यवाद के पात्र हैं।

*** पं. ज्ञानचन्दजी 'स्वतन्त्र' शास्त्री, न्यायतीर्थ; गंजबासौदा (म.प्र.)**

डॉ. भारिल्ल की कृतियाँ अभूतपूर्व और बेजोड़ होती हैं। उनकी लोकप्रियता और विद्वता जगजाहिर है। जो विद्वान उनके साथ उठा-पटक करते हैं, वे भी उनकी कृतियों की प्रशंसा करते देखे गये हैं।

*** ब्र. विद्युल्लता शहा; एम.ए., बी.एड., प्रा. श्राविका प्रशाला, सोलापुर**

पठनीय, अध्ययनीय एवं मननीय अनूठी कृति 'आप कुछ भी कहो' आबाल-वृद्धों के लिए अनुपम एवं मौलिक निधि है। स्वस्थ अभिरुचि, उन्नत विचारों के पोषण के लिए यह किताब सुन्दर है, सर्वोत्कृष्ट है। छोटी-छोटी कहानियों की गागर में सूक्तियों का सागर भर दिया गया है। इसकी एक-एक सूक्ति हृदय-पटल पर जमकर जीवन को समृद्ध बनाने में समर्थ है।

*** जैनपथ प्रदर्शक (पाक्षिक), जयपुर; मार्च (प्रथम) १९८४**

कहानियों के रूप में अध्यात्म का ऐसा सशक्त चित्रण, जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों की इतनी सरल एवं सरस अभिव्यक्ति, जैन तत्त्वज्ञान का ऐसा अपूर्व दिशाबोध अब तक उपलब्ध नहीं था। निश्चय ही इस क्षेत्र में यह अनुपम एवं अभूतपूर्व प्रयोग है। मेरा विश्वास है कि इस माध्यम से अध्यात्म आसानी से जनसाधारण तक पहुँच सकेगा।

विचारप्रधान निबन्धलेखन की तरह कथाशिल्प में भी डॉ. भारिल्ल सिद्धहस्त हैं। उनकी यह विशेषता है कि आगमिक मर्यादाओं का पूरा ध्यान रखते हुए वे अपनी बात इस सहजता से प्रस्तुत करते हैं कि पाठक के गले सहज ही उतरती चली जाती है। प्रसन्नता की बात यह है कि उनकी कलम अध्यात्म एवं तत्वज्ञान के क्षेत्र में ही गतिमान रही है।

— रतनचंद भारिल्ल

*** जैनमित्र (साप्ताहिक), सूरत; ५ अप्रैल, १९८४**

प्रस्तुत कृति में कुछ धार्मिक, कुछ सामाजिक और कुछ पारिवारिक कहानियाँ हैं। सभी कहानियों में आध्यात्मिक सुरभि मिलती ही है। उत्तम विचारों के धनी डॉ. भारिल्ल कलम के भी धनी हैं।

*** समन्वयवाणी (पाक्षिक), जयपुर; अप्रैल (द्वितीय), १९८४**

सभी कहानियाँ उत्कृष्ट हैं। भारिल्लजी एक सिद्धहस्त कथाकार हैं तथा निश्चित ही उनका सभी विधाओं पर समान अधिकार है — यह इस कृति ने सिद्ध कर दिया है। बीच-बीच में समागत सूक्तियों ने कृति को और भी अधिक प्रभावी बना दिया है। पुस्तक की छपाई एवं गेटअप सुन्दर है।

— अखिल बंसल

*** वीरवाणी (पाक्षिक), जयपुर; ३ अप्रैल, १९८२, वर्ष ३६, अंक १३**

सरल, सुबोध भाषा में जनमानस को छूनेवाली इस मौलिक कृति में डॉ. भारिल्ल की दस कहानियाँ संग्रहीत हैं। प्रत्येक कहानी पढ़ने की उत्सुकता को बढ़ाती है, किताब छोड़ने को जी नहीं चाहता। पौराणिक कथानकों पर आधारित कहानियों में मौलिकता है, अध्यात्म का पुट है।

पुण्य-पाप, आत्मा सरीखे कठिन विषयों को भी रोचक व सरल शैली में निबद्ध करना डॉ. भारिल्ल की विशेषता है।

'चक्रवर्ती भी अभागा' — यह कहानी पढ़ते ही बनती है। कुल मिलाकर यह अनूठी कृति सबको पसन्द आवेगी और सबको कुछ मिलेगा भी इसके पढ़ने से। ऐसी रचना के लिए डॉ. भारिल्ल साधुवाद के पात्र हैं।

*** डॉ. हरीन्द्रभूषण जैन; निदेशक, अनेकान्त शोधपीठ, बाहुबली (महाराष्ट्र)**

कथा का एक प्रकार है — आधुनिक कथा; जिसमें भाषा, भाव, घटना, शैली आदि सभी में आधुनिकता होती है। कथा के उद्देश्य भी अनेक होते हैं — मनोरंजन, सामान्यज्ञान, तत्त्वबोध आदि। इन सभी दृष्टियों से विचार करें तो हम इसे 'आधुनिक तत्वकथा' कह सकते हैं।

यद्यपि कहानियों की कथावस्तु पौराणिक तथा ऐतिहासिक होने से परिचित जैसी है, तथापि प्रस्तुति का ढंग ऐसा सरस और औत्सुक्यपूर्ण है कि कथाएँ अत्यन्त रुचिकर बन गई हैं। कथाओं में यत्र-तत्र आधुनिक एवं नवीन उपमानों के प्रयोग दिखाई पड़ते हैं। जैसे — 'पेट्रोलियम पदार्थ में लगी आग के समान तूफानी गति से' (पृष्ठ ४४) आदि। इन कथाओं की यह एक अपनी विशेषता है। छोटी-छोटी सदुक्तियों के समावेश ने कथाओं में सौष्ठव एवं प्रभाव उत्पन्न कर दिया है।

प्रथमानुयोग की कथाओं को आधुनिक शैली और भाषा में परिष्कार करके उपस्थित करने की जो आवश्यकता थी, प्रस्तुत पुस्तक उसकी ओर प्रथम चरण है। आगे भी स्वयं भारिल्लजी तथा अन्य लोग भी इस शैली पर जैनकथाएँ लिखकर जैनसाहित्य को समृद्ध करने का प्रयत्न करेंगे - ऐसी आशा है।

*** श्री त्रिलोकचन्दजी जैन; भूतपूर्व स्वास्थ्य मंत्री, राजस्थान, जयपुर**

जैनदर्शन के प्रखर चिन्तक डॉ. भारिल्ल बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। वे सुक्षुत प्रवचनकार एवं सिद्धहस्त लेखक के रूप में सुप्रसिद्ध हैं। सरल, सरस एवं सुबोध भाषा-शैली में जैनतत्वज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने के

लिए जिस श्रद्धा व लगन के साथ जो अथक श्रम वे कर रहे हैं, वह अभिनन्दनीय है।

जैनदर्शन की मर्यादाओं का बड़ी ही सुन्दरता के साथ निर्वाह करते हुए इस कृति के माध्यम से जिस विश्वास के साथ कदम रखा है, वह जैनवाङ्मय के कथासाहित्य को नई विद्या के साथ समृद्ध करने में समर्थ होगा।

इस दिशा में उनकी प्रथम रचना 'सत्य की खोज' बहुत ही लोकप्रिय सिद्ध हुई है। यह 'आप कुछ भी कहो' दूसरी कृति है।

आरंभिक कथाओं की अपेक्षा अन्तिम चार कथाओं में कथाशैली की प्रतिभा विशेष निखरी है। इनमें घटनाओं का चित्रण, परिस्थितियों का वर्णन, भाषा की सरसता एवं सरलता, विचारों की सुबोधता, परिकल्पनाओं की सुसंबद्धता तथा संदेशात्मकता के दर्शन होते हैं।

पौराणिक कहानियों में लेखक कथाकार से प्रवचनकार अधिक हो गया है, जो डॉ. भारिल्ल की सहज प्रकृति है। सब-कुछ मिलाकर यह कथासंग्रह पठनीय है। ●